Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने परम्परागत, रासायनिक, जैविक हथियारोंकी तलाशीके लिए अनुमति देगा।

संयुक्त राष्ट्रके अधिकारियोंने बताया कि इराकी प्रस्तावके साथ अस्वीकार्य शर्तें जुड़ी हैं, किन्तु फिर भी ये प्रस्ताव आगेकी बातचीतके लिए आधार तैयार करेंगे

इराकी चालक ही उड़ा... संयुक्त राष्ट्रका कहना था... लिए विमान और चालक... उसके होंगे। इराकी राजदूत... अल अनवरीने कल सु... प्रस्तावकी जानकारी दी।

सुरक्षा परिषदके अध्यक्ष...

सात थानाध्यक्ष पदाव...

१७ थानोंमें फेरबदल

(हमारे संवाददातासे)

जौनपुर, १८ सितम्बर। पुलिस अधीक्षक श्री छविनाथ सिंहने आज सात थानाध्यक्षोंको पदावनत करते हुए करीब १७ थानाध्यक्षों १० सब इंसपेक्टरोंको इधर-उधर कर दिया है।

पदावनत होनेवालोंमें श्री रामसुन्दर निषाद थानाध्यक्ष बक्शासे एस.ओ. जफराबादसे एस.एस.आई. कोतवाली नगर तिलकदेव पाण्डेय ए.ओ. खुटहनसे एस.आई. मछली शहर शम्भूनाथ पाण्डेय एस.ओ. पवारासे एस.आई. कोतवाली नगर, देशराज सिंह एस.ओ. गौरा बादशाहपुरसे एस.आई. कोतवाली तथा यशोदानंद यादव एस.ओ. महराजगंजसे एस.आई.ने बढ़िया। इसके अलावा अब राम आसरे सिंह एस.आई. कोतवालीसे एस.ओ. गौराबादशाहपुर राधेश्याम दूबे एस.आई. शाहगंजसे एस.ओ. चंदवक, सर्वजीत शाही एस.ओ. मुंगारबादशाहपुरसे एस.ओ. लाइन बाजार वकील पाण्डेय लाइन बाजारसे एस.ओ. पंवारा, देशबहादुर सिंह गौतम एस.आई. सिधाई चौ... खुटहन, जयशंकर त्रि... मड़ियाहूंसे एस.ओ. ... उग्रसेनधर द्विवेदी एस.आ... एस.ओ. सरपतहां, ... एम.आई. पंवारासे प्रभा... डी.सी.आर.एस., र... एस.आई. बरसठी... महराजगंज, गोकरन सि... कोतवाली केराकत... मुंगराबादशाहपुर, भुल... बरसठी बने रहेंगे तथा... एस.ओ. सरपतहांसे ... पदपर तैनात रहेंगे।

बदरीनाथमें बस स्टेशन, यात्री निवास हेतु ८० लाख

('आज' समाचार सेवा)

लखनऊ, १८ सितम्बर। उत्तर प्रदेश सरकारने बदरीनाथ धाममें बस स्टेशन

अफ...

गुरिल्ल...

अमेरि... योजन...

मास्को, १८ सित... अफगानिस्तानके राष्ट्रप... कहा है कि उन्होंने...

M-758532

55
...RAW ON 25-9-91 AT
...refer to the State Gazette.
...ommunity Centre
...udpur New Delhi-48
...427609, 6427610, 6427611,
...339, Fax : 011-6429616
...NAGALAND KOHIMA
J/2726

...ताहिक लाटरी
...त्येक बुधवार

...18-9-91 at 3 p.m. in
UK-521600
...last 5 digits in
XK-84809
...last 5 digits)
...58398
...999 18508
...nding with last 4 digits)
5451
5725
...last 4 digits)
...61
...48
...ast 4 digits)
...4 0376
...36 63... 579 4272

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुलि... रखा यह बम एक खेतमें पड़ा था जिसे वह व्यक्ति कोई सामान होनेके संदेहमें उसे घर उठा कर ले गया जहां यह विस्फोट हो गया।

कल चौक क्षेत्रमें एक विस्फोट हुआ इस विस्फोटमें कोई व्यक्ति घायल नहीं हुआ। इससे पूर्व गत १५ सितम्बरकी रात बजीरगंज मोहल्लेमें एक मकानमें हुए विस्फोटमें दो व्यक्तियोंकी मृत्यु हो गयी।

वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक श्री ए. के. जैन द्वारा जारी एक प्रेस विज्ञप्तिमें बताया गया है कि १५ सितम्बरको बम विस्फोटकी घटनाके बाद पुलिसकी तलाशियां तेज हो जानेसे अपराधियोंने कड़े दबावके कारण विस्फोटक सामान खंडहर, खेत आदिमें फेंक दिये हैं।

...न कमांडरोंको
...मिलनेका निर्देश

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि-पाणिनि-अनुसन्धान
तिथी..........
पु०सं०..........
भारती पुस्तकालय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी निबंध : एक यात्रा

महर्षि-पाणिनि-शोध अनुसंधान
तिथी.......
पु०सं०...
भारती पुस्तकालय

सम्पादक
सिद्धिनाथ श्रीवास्तव,
तथा
विश्वम्भरनाथ दूबे

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकभारती प्रकाशन,
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : १९८०

मुद्रक
पर्वतीय मुद्रणालय
१८, राय रामचरन दास रोड
इलाहाबाद—२११००२ द्वारा मुद्रित

मूल्य : ८·०० रुपया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथी.........
पु०सं०...
भारती पुस्तकालय

हिन्दी निबन्ध :

निबन्ध गद्य साहित्य की एक प्रमुख विधा है जिसे हिन्दी साहित्य की एक आधुनिक विधा की भी संज्ञा दी गयी है। इसका सम्बन्ध मानव की आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति से है। मनुष्य एक सम्वेदनशील प्राणी है। वह जगत के बहु-विध व्यापारों का संस्पर्श पाकर तद्जन्य विचारों, अनुभूतियों एवं आस्थाओं को प्रकट करता है। उसकी यही आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति निबन्ध का सर्जन करती है। उसकी यह सर्जना-प्रवृत्ति अपनी विराट् भूमिका लेकर प्रस्तुत होती है। तात्पर्य यह है कि उसकी यह प्रवृत्ति साधारण विषय से लेकर गंभीर विषयों तक अपना दौड़ लगाती है। इससे उसका विषय-आयाम विस्तृत हो जाता है। यही कारण है कि निबन्ध के अन्तर्गत—लेख, संस्मरण, रेखा चित्र, रिपोर्ताज, भाषण, डायरी और विज्ञप्ति आदि विषय आ जाते हैं।

निबन्ध के कुछ समानार्थी शब्द प्राप्त होते हैं, यथा-प्रबन्ध रचना, लेख और सन्दर्भ आदि। इनमें सूक्ष्म अन्तर भी पाया जाता है। 'प्रबन्ध' का अभिप्राय अधिक व्यापकता से है। इसमें किसी विषय का साङ्गोपाङ्ग और विस्तृत वर्णन किया जाता है। इसमें एक ही विषय पर अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत होती हैं, लेकिन निबन्ध लघु एवं समास शैली में उद्धृत होता है। इसमें प्रायः एक ही विषय पर मत प्रकट किया जाता है। 'रचना' का तात्पर्य व्याकरणानुमोदित शब्दों, वाक्यों तथा कृति की आख्या के शुद्ध प्रयोग से है। लेख साधारणतः किसी भी लिखित सामग्री को कहा जा सकता है, लेकिन सम्प्रति इसका प्रयोग लेख की उस आत्मप्रकाशन क्षमता से सम्बद्ध है जिससे विषय शास्त्रीय ढंग से सँजोया गया हो। 'लेख' शब्द का प्रयोग भारतेन्दुयुगीन साहित्यकारों—भारतेन्दु एवं बालकृष्ण भट्ट—आदि ने किया है, लेकिन आज 'लेख' और 'निबन्ध' दोनों पर्याय नहीं रह गये हैं। 'लेख' साधारण भाव का द्योतक है जबकि निबन्ध लेखक के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तित्व एवं शिल्पगत वैशिष्ट्य को समाहित किये हुए हैं। इसी प्रकार से 'संदर्भ' शब्द का प्रयोग 'हरिऔध' ने निबन्ध के अर्थ में किया है, जो उनके 'संदर्भ सर्वस्व' से प्रकट होता है।

निबन्ध का व्युत्पत्त्यार्थ :

निबन्ध शब्द की व्युत्पत्ति अनेक रूपों में की गयी है। नि + बन्ध + ल्युट्— 'निबध्यते अस्मिन् इति अधिकरणे निबन्धनम्'—अर्थात् जिसमें विचार बाँधा अथवा गूँथा गया हो, ऐसी रचना। नि + बन्ध + घञ्—'निश्चितार्थेन विषयम् अधिकृत्य बन्धनम्'—अर्थात् निश्चित रूप से किसी विषय पर विचारों की श्रृंखला बाँधना, रोकना अथवा संग्रह करना। शब्द कल्पद्रुम के अनुसार— निबध्नातीति निबन्धम्'—जो बाँधता है, वही निबन्ध है। 'आप्टे' के शब्दकोश में निबन्ध के बारह अर्थ प्राप्त होते हैं—इनमें बाँधना, जोड़ना, रचना, लिखना, साहित्यिक टीका या कृति, संग्रह आदि मुख्य हैं। इन अर्थों से यह ध्वनित होता है कि लेखक निबन्ध के माध्यम से अपने विचारों को क्रमबद्ध रूप से व्यक्त करने का प्रयास करता है।

निबन्ध की परिभाषा और स्वरूप :

निबन्ध का आयाम इतना विस्तृत है कि इसकी कोई सुनिश्चित परिभाषा स्थिर नहीं की जा सकती फिर भी इसके किंचित् लक्षणों के आधार पर विद्वानों ने इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। एक पाश्चात्य समीक्षक ने कहा है कि एक निबन्धकार की कलाकृति को निबन्ध कहते हैं। निबन्ध अंग्रेजी के 'Essay', 'फ्रेंच' भाषा के 'एसाइस' और 'लैटिन' के एक्जीयम' के पर्याय के रूप में प्रचलित है। जिनके अर्थ हैं—प्रयास करना, प्रयोग करना, मापना, तौलना आदि। 'फ्रान्सीसी' विद्वान 'Montaigne' के अनुसार—''मेरे निबन्ध मेरे मन की स्वच्छन्द उड़ान हैं, मैं अपने निबन्धों में अपने आपको अध्येताओं के समक्ष उद्घाटित करने का प्रयास करता हूँ।'' अभिप्राय यह है कि निबन्ध में लेखक और पाठक के मध्य किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं रह जाता। प्रसिद्ध निबन्धकार 'बेकन' ने विचार पक्ष पर बल देते हुए लिखा है कि निबन्ध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ इने-गिने पृष्ठों के लघु विस्तार होते हैं, जिनमें मन के बिखरे हुए सारगर्भित ठोस विचारों का निर्देश पाया जाता है।[1] डॉ० जॉनसन (Johnson) ने बन्धन-मुक्तता को प्राथमिकता देते हुए मन की सहजगति के अभिलेख को निबन्ध माना है।[2]

डब्लू० ई० विलियम ने लिखा है—'निबन्ध गद्य रचना का एक बहुत ही लघुरूप होता है। उसमें मात्र आख्यान ही नहीं होता वरन् निबन्धकार यत्र-तत्र अपनी बातों को सिद्ध करने के लिए प्रसंगों का भी उल्लेख करता है। उसका मुख्य कार्य सामाजिक, दार्शनिक और आलोचक जैसा होता है।' इनके अतिरिक्त परवर्ती काल के कुछ योरोपीय समीक्षकों ने इन परिभाषाओं को अंशतः स्वीकार करते हुए कहा कि निबन्ध में एक मुख्य विचार होना चाहिए और साथ ही साथ गौण रूप में अन्य अनेक बातें भी होनी चाहिए। यह अभिलेख अपने स्वरूप में संक्षिप्त हो।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषाएँ आधुनिक हिन्दी साहित्य में लिखित निबन्धों पर पूर्णतः लागू नहीं होतीं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी निबन्ध के स्वरूप में पाश्चात्य और भारतीय मतों का समन्वय है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार—"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व, अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो—व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं है कि उसके प्रदर्शन के लिए विचार की श्रृंखला रखी ही न जाय या जानबूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी

1—"An Essay consitsts of few pages of concentrated wisdom with little elaboration of ideas Expressed"—Becon.

2—"A loose salley of mind, an irregular, undigsted piece, no to regular and orderlyper formance."—Johnson.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय...भाषा से सर्कस वालों जैसी कसरतें या हठयोगियों जैसे आसन कराए जायें जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवाय और कुछ न हो।"[१]

अतः स्पष्ट है कि शुक्ल जी निबन्ध को गम्भीर विचारों की अभिव्यक्ति की सशक्त विधा मानते हैं। वे यह भी कहते हैं कि गद्य कवियों की कसौटी है, तो—निबन्ध गद्य की कसौटी है।

बाबू गुलाब राय का मत है कि निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।[२]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि भावों या विचारों की प्रधानता तथा शैली की रमणीयता के योग से जिस नवीन साहित्य का प्रचलन हुआ, उसे ही निबन्ध साहित्य की संज्ञा दी गई।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि असम्पूर्णता का विचार न करने वाला गद्यरचना का वह प्रकार जिसमें स्वानुभूति की प्रधानता हो, विषय निरूपण में स्वतंत्रता हो, जिसमें लेखक का व्यक्तित्व पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित हो जिसकी शैली मौलिक तथा साहित्यिक कोटि की हो निबन्ध कहलाएगा।[३]

डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का कथन है कि तर्क और पूर्णता का अधिक विचार न रखने वाला गद्य रचना का वह प्रकार निबन्ध कहलाता है जिसमें किसी विषय या विषयांश का लघु विस्तार में स्वच्छन्दता एवं आत्मीयतापूर्ण ढंग से ऐसा कथन हो कि उसमें लेखक का व्यक्तित्व झलक उठे।[४]

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल— हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ४८२, सोलहवाँ संस्करण।

२—बाबू गुलाब राय—काव्य के रूप—पृ० २३६।

३—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—निबन्ध निचय—प्राक्कथन-पृ० २५

४—डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—आदर्श निबन्ध—पृ० ८९।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने अपने-अपने अनुसार जो निबन्ध की परिभाषाएँ दी हैं, वे प्रायः आधुनिक प्रचलित निबन्धगत विशेषताओं को प्रस्तुत नहीं करतीं।

मेरे विचार से निबन्ध साधारण विषय से लेकर दुरूह, विशिष्ट विषय पर लिखा हुआ वह लेख है, जिसमें निबन्धकार का व्यक्तित्व, उसके हृदय एवं बुद्धि-पक्ष का समन्वय, विषय को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित रूप में प्रस्तुत करने का शिल्प विधान, विषय को निरूपित करने की उसकी स्वच्छन्द वृत्ति-आदि विशेषताएँ हों। संक्षेप में निबन्ध में निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं :

१—व्यक्तित्व का प्रकाशन।

२—लेखक या पाठक के मध्य सीधा सम्बन्ध।

३—संघटित और स्वतंत्र रचना।

४—संक्षिप्त गद्य रचना।

५—प्रभाव पूर्ण शैली।

निबन्ध के भेद :

विषय, व्यक्तित्व, रचना-पद्धति और भाषा-शैली की विविधता के कारण निबन्ध का कोई सर्वमान्य वर्गीकरण करना कठिन है। इस सन्दर्भ में सभी विद्वान एक मत नहीं हैं। कोई विषय की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आलोचनात्मक—निबन्ध का वर्गीकरण करता है— और कोई उपस्थापन पद्धति के आधार पर-विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक कथात्मक तथा आत्मव्यंजक—पाँच भेद मानता है। कुछ लोगों ने शैली के आधार पर निबन्ध के सात भेदों की कल्पना की है। इनमें व्यास शैली, अलंकृत शैली, समास या सूत्र शैली, लाक्षणिक या प्रतीकात्मक शैली, अभिधात्मक या प्रसाद पूर्ण शैली, हास्य-व्यंग्य-विनोद पूर्ण शैली और मुक्त अनुबन्ध शैली हैं। कुछ निबन्ध को दो वर्गों में रखते हैं—

(१) विषय प्रधान अथवा विषयनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ।

(२) विषयी प्रधान या आत्म व्यंजक अथवा निजात्मक।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे लोग विषयप्रधान के अन्तर्गत –वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक तथा विषयीप्रधान के अन्तर्गत--विचारात्मक, भावात्मक तथा आत्मपरक या वैयक्तिक निबन्धों की गणना करते हैं।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इन्हें क्रमशः परिबन्ध निबन्ध, और निर्बंन्ध निबन्ध कहा है। उनके परिबन्ध निबन्ध के अन्तर्गत-विचारात्मक, वर्णनात्मक और कथात्मक एवं निर्बन्ध निबन्ध के अन्तर्गत-व्यक्तिव्यंजक और भावात्मक निबन्ध आते हैं। ये निबन्धगत भेद विषय और विषयी के आधार पर किये गये हैं किन्तु इनके अतिरिक्त निबन्ध में लेखक की दृष्टि की प्रधानता होती है। इस आधार पर निबन्ध के मुख्यतः तीन भेदों की परिकल्पना हो सकती है जिनके अन्तर्गत विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट सभी प्रकार के भेद समाविष्ट हो सकते हैं :

(क) विषयप्रधान : (१) परिचयात्मक या सूचनात्मक (२) वर्णनात्मक (३) व्याख्यात्मक (४) संस्मरणात्मक और—(५) चरितात्मक।

(ख) विषयीप्रधान : (१) भावात्मक (२) व्यक्तिव्यंजक (३) व्यंग्यात्मक (४) आत्मकथात्मक।

(ग) दृष्टिप्रधान : (१) विचारात्मक (२) उद्बोधनात्मक (३) कथात्मक (४) समीक्षात्मक।

उपर्युक्त सभी भेदों को दृष्टिगत रखते हुए यह निश्चित किया जा सकता है कि संक्षेप में विषयप्रधान या परात्मक तथा विषयीप्रधान या निजात्मक दो प्रकार का मुख्यतः भेद स्वीकार करना ही ज्यादा उपयुक्त प्रतीत होता है। इन दो भेदों में ही सभी प्रकार के निबन्धों का समावेश हो सकता है।

विषयप्रधान निबन्ध :

इस प्रकार के निबन्धों में विषय की प्रधानता होती है। लेखक विषय के परिवेश को छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकता। वह अपने विषय का निर्वाह मुख्य रूप से करता है। इसमें लेखक का व्यक्तित्व गौण होता है और विषय के विवेचन की प्रमुखता रहती है। विषयनिष्ठ निबन्ध गम्भीर, नीरस और क्लिष्ट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी होते हैं। इस निबन्ध के वर्णनात्मक और विवरणात्मक दो भेद स्वीकार किये गये हैं।

वर्णनात्मक : वर्णनात्मक निबन्ध में किसी वस्तु, दृश्य, स्थान आदि का वर्णन पाया जाता है। निबन्धकार नदी, पहाड़, जंगल, दृश्य, तीर्थस्थान, यात्रा, क्रीड़ा-स्थान, आदि का यथावत् प्रस्तुतीकरण करता है। वह शब्दचित्रों के माध्यम से किसी वस्तु का ऐसा चित्र उपस्थित करता है कि उस वस्तु के प्रत्यक्ष होने का भान होने लगता है। इस निबन्ध में निबन्धकार की पैनी दृष्टि का परिचय मिलता है जिससे वस्तुओं का आद्योपान्त अंग-प्रत्यंग अपने स्वाभाविक रूप में पाठक के समक्ष क्रियाशील दिखायी देता है। इसमें शैली सरल, सुबोध एवं प्रसाद गुण सम्पन्न होती है। इस प्रकार के निबन्ध के लिए व्यास शैली, उपयुक्त मानी गयी है। यह शैली मुख्यतः शिक्षक का काम करती है। इसमें 'बालकृष्ण भट्ट', 'माधव प्रसाद मिश्र', 'पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, 'बाबू गुलाब राय', 'महादेवी वर्मा' आदि निबन्धकार आते हैं।

विवरणात्मक : ऐसे निबन्धों में किसी कथा या वृत्तान्त का विस्तृत वर्णन अथवा किसी ऐतिहासिक घटना का कालगत विवेचन पाया जाता है उसमें पौराणिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक तत्त्वों की प्रधानता पायी जाती है। निबन्धकार कथात्मक शैली का आश्रय लेकर विषय की रागात्मकता पाठक से बनाये खतरा है। इसमें अनुभूति एवं तथ्यों के उद्घाटन के साथ-साथ निबन्धकार के कल्पना-तत्व की प्रधानता पायी जाती है। इसमें 'भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र', 'बालकृष्ण भट्ट', 'प्रताप नारायण मिश्र', 'महावीर प्रसाद द्विवेदी' और 'पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी' आदि निबन्धकारों का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।

विषयीप्रधान निबन्ध :

विषयीप्रधान निबन्धों को व्यक्तिनिष्ठ या व्यक्तिव्यंजक निबन्ध भी कहा जाता है। इसमें लेखक की सहृदयता, उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति तथा उसकी अनुभूति प्रधान रूप से पायी जाती है। ऐसे निबन्धों में निबन्धकार का प्रमुख लक्ष्य अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है। निबन्धकार पाठक से अपना सीधा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध स्थापित करता है। वह अपनी बात कहने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं करता। इसमें लेखक विषय से हटकर अप्रासंगिक कल्पनाएँ भी करता है। इसके बाद वह विषय के साथ अन्विति स्थापित करते हुए पुनः विषय-पथ का पथिक बन जाता है। वह कल्पना की गगनचुम्बी उड़ानें लेता हुआ इतिहास, पुराण, समाज और प्रकृत्ति के न जाने कितने उपादानों को अपने निबन्ध में सँजोने का प्रयास करता है। 'विचारात्मक', 'भावात्मक' और 'आत्मपरक' निबन्धों की गणना इसके अन्तर्गत की जाती है।

विचारात्मक निबन्ध : ऐसे निबन्ध निबन्धकार के गंभीर अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं अनुभव की अपेक्षा रखते हैं। इनका विषय प्रायः अमूर्त होता है। इसमें तर्क एवं बुद्धितत्त्वों की प्रधानता पायी जाती है। ये निबन्ध तत्त्वों एवं सिद्धान्तों के आधार पर व्यक्त किए जाते हैं। इनमें सरसता नहीं पायी जाती परन्तु उनका तारतम्य भी विशृंखलित नहीं होता। यही कारण है कि ये निबन्ध अत्यन्त गठित और तर्कों की योजना से आबद्ध रहते हैं। इनमें किसी की बात को ऐसी बारीकी एवं वैज्ञानिकता से पुष्ट किया जाता है कि वे पाठक की चेतना को उद्बुद्ध कर देते हैं। इसमें 'व्यास' और 'समास' शैली का प्रयोग पाया जाता है। विचारों का प्रवाह संश्लिष्ट ढंग से नियोजित होता है। इस प्रकार के निबन्धकारों में 'महावीर प्रसाद द्विवेदी,' 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल', 'श्याम सुन्दर दास' 'नन्ददुलारे वाजपेयी' और 'डा० नगेन्द्र' आते हैं।

भावात्मक निबन्ध : इन निबन्धों में भावों की प्रधानता पायी जाती है इसमें बुद्धितत्त्व गौण होता है। लेखक धारा, तरंग और प्रलाप शैलियों के माध्यम से अपनी भावानुभूतियों का संचालन ऐसे निबन्धों में करता है। इसमें लेखक की भावुकता, हार्दिक सुख-दुख, अच्छे-बुरे से सम्बद्ध आकर्षण-विकर्षण, परिस्थितिजन्य ममत्व एवं आक्रोश, स्वभावगत मनोविकार एवं परिस्थिति-जन्य प्रतिक्रियात्मक भावनाओं आदि का उल्लेख रहता है। निबन्धकार इसके माध्यम से अपने मन की भावनाओं को बड़ी निश्छलता के साथ व्यक्त करता है जिससे पाठक भी लेखक के भावों के उतार-चढ़ाव से पर्याप्त प्रभावित हो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। इस प्रकार के निबन्धों में संगीत एवं भावों की प्रभावान्विति पायी जाती है। जो जिज्ञासुओं को रस-मग्न कर देती है। यही कारण है कि विद्वानों ने इसे गद्यकाव्य की भी संज्ञा प्रदान की है। 'बालकृष्ण भट्ट', 'प्रताप नारायण मिश्र', 'सरदार पूर्ण सिंह', 'वियोगीहरि', 'रामवृक्ष बेनीपुरी' और 'राय कृष्ण दास' आदि निबन्धकारों की गणना ऐसे निबन्ध लेखकों में की जाती है।

आत्मपरक (व्यक्तिवादी) निबन्ध : निबन्धों की श्रेणी में इस प्रकार के निबंध उच्चकोटि के माने जाते हैं। इसे अंग्रेजी में (Personal essay) 'पर्सनल ऐसे' कहते हैं। इसमें सजगता, प्राणवत्ता तथा अमिट प्रभावकारी गुण पाये जाते हैं। इसमें निबन्धकार के रूप को स्वयं विषय-सामग्री बन कर प्रत्यक्ष होना पड़ता है। अर्थात् इसमें निबंधकार की प्रतिच्छाया प्रविष्ट रहती है। वह जीवन की बहुविध घटनाओं, चित्रों एवं प्रत्यक्ष अनुभवों को इस प्रकार से सजा देता है कि निबन्ध इन सभी उपादानों को जिज्ञासु के समक्ष उपस्थित करने में हिचक नहीं रखता। यह निबन्ध लेखक से सम्बन्धित आनन्द-विषाद, गुण-अवगुण, प्रेम-घृणा, मृदु-कटु, मित्र-शत्रु आदि जितने भी मूर्तामूर्त भाव हैं, उन सभी को अपने में सँजोकर पाठक के ऊपर अमिट प्रभाव डालता है। तात्पर्य यह है कि अध्येता निबन्ध को पढ़ने के पश्चात् किंचित क्षणों के लिए लेखक की भूमिका में मंत्रमुग्ध हो जाता है। इसमें स्वानुभूति और कल्पना का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह निबन्ध आत्माभिव्यक्ति का एक माध्यम बन गया है। निबन्धकार अपनी स्वच्छन्द-वृत्तियों से भाव लहरियों को उड़ेलते हुए विषय का प्रतिपादन करता है। निबन्ध में वह पाठक के इतना समीप पहुँच जाता है कि उसे अपना सब कुछ मानकर अपने हृदय के सभी उद्गारों को कह सुनाता है। आत्मपरक निबन्ध में यत्र-तत्र व्यंग्य एवं विनोद की छटा भी दिखायी देती है। निबन्धकार विषय का विवेचन करते-करते कभी-कभी विषयान्तर भी कर जाता है।

हिन्दी निबन्ध का विकास :

साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृतिक दृश्यों के सम्पर्क से अपनी मानसिक भावनाओं को शब्दचित्रों के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम से सजाने वाला व्यक्ति कवि रहा होगा और उससे शब्दचित्र को पद्य की संज्ञा दी गयी होगी। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य प्रायः काव्यमय भाषा में प्राप्त होता है। संस्कृत काव्य के विषय में कहा गया है कि वह लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने वाला होता है। भारतीय भाषाओं के साहित्य में संस्कृत काव्य-साहित्य अति प्राचीन है। उत्कर्षापकर्षजन्य परिस्थितियों के प्रभाव से संस्कृत-साहित्य में परिवर्तन होने लगे। परिणामतः कालक्रमानुसार पालि, प्राकृत, अपभ्रंश के स्वरूप देखने को मिलने लगे। धीरे-धीरे नवीं और दशवीं शताब्दी में अपभ्रंश की परम्परा प्रायः टूटती हुई दिखाई देने लगी। अरबी-फारसी भाषा के सम्पर्क में आने पर अपभ्रंश का एक नया रूप हिन्दी के रूपों में प्रकट हुआ। उस समय का लिखा गया साहित्य पद्य रूप में ही प्राप्त होता है। धीरे-धीरे ईसा की अठारहवीं शताब्दी के पूर्व तक साहित्य की काव्य-मय सर्जना का बाहुल्य था। उसमें गद्य-रचना को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व दानपत्रों, वार्ताओं, टीकाओं एवं सनदों को देखने से पता चलता है कि व्रजभाषा और राजस्थानी इन उभय भाषाओं में गद्य साहित्य के उदाहरण मिलते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में परि-स्थितियों ने लोगों के दिल और दिमाग पर ऐसा प्रभाव डाला कि व्यावहारिक कार्यक्षेत्र में साहित्यगत खड़ी बोली को प्रधानता मिली। समकालीन शासकों का दिमाग इसके उत्थान की ओर आकर्षित हुआ। फलतः उसके प्रचार एवं प्रसार के केन्द्र बनते गये। कलकत्ता इसका विकास केन्द्र बना। शनैः शनैः पाश्चात्य सभ्यता के वैज्ञानिक आविष्कार और औद्योगिक उपकरणों के प्रभाव से यहां पर अनेक छापाखानों का निर्माण हुआ। फलस्वरूप छपी पुस्तकें कम मूल्य पर भाषा के प्रचार एवं प्रसार के उद्देश्य से वितरित की जाने लगीं। इस प्रचार में आर्य समाज, ब्रह्म समाज; रामकृष्ण मिशन; आदि संस्थाओं ने गद्य साहित्य में समाज सुधार एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण सम्बन्धी विचारों को प्रकट किया।

परिणामस्वरूप अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रचलन हुआ और इन्हीं की सहायता से लेखक अपनी भावनाओं-विचारों को जनता तक पहुँचाने में सफल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए। पत्र-पत्रिकाओं के प्रचलन के साथ ही गद्य की इस निबन्ध विधा का जन्म हुआ जो उन्नीसवीं शताब्दी से अद्यावधि अपनी विकासमान दिशा में अग्रसर है।

निबन्ध की इस विकास-यात्रा को हम सुविधा की दृष्टि से अधोलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं :

१—उदयकाल (सन् १८५० से १९०० ई० तक)

२—विकास काल (सन् १९०० से १९२० ई० तक)

३—उत्कर्ष काल (सन् १९२० से १९५५ ई० तक)

४—वर्तमान काल (सन् १९५५ से अद्यावधि तक)

हिन्दी निबन्ध का उदय काल (सन् १८५० ई० से १९०० ई० तक)

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी साहित्य परम्परा रूढ़ि का ही अनुसरण कर रहा था, परन्तु इस समय खड़ी बोली के गद्य की अपनी एक निश्चित दिशा का भान होने लगा था। इस समय खड़ी बोली गद्य में विविध व्यावहारिक विषयों से सम्बन्धित रचनाएँ होने लगी थीं। खड़ी बोली की रचनाओं से हिन्दी प्रदेश के जीवन में एक आधुनिकता का बीजारोपण हुआ। पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में आने के कारण खड़ी बोली गद्य अपने विकास की ओर अग्रसरित हुआ। इस विकास में 'उदन्तमार्तण्ड', 'बंगदूत', 'बनारस अखबार' और 'सुधाकर' आदि पत्र-पत्रिकाओं ने अपना विशेष योगदान दिया। इन पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का उद्देश्य धनार्जन नहीं था वरन् इनके माध्यम से अपने विचारों का प्रचार एवं प्रसार करना था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'कवि वचन सुधा', नवीन चन्द्र राय की 'ज्ञान प्रदायिनी' प्रताप नरायण मिश्र का 'ब्राह्मण', बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रदीप', बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन का 'नागरी नीरद' और, आनन्द कादम्बिनी', लाला श्रीनिवास दास का 'सदादर्श', अम्बिकादत्त व्यास का 'पीयूष प्रवाह' और बाल मुकुन्द गुप्त का 'भारत मित्र' आदि पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी-खड़ी बोली-गद्य साहित्य को विकसित बनाने में सक्रिय योगदान किया। इन पत्रिकाओं के सम्पादकों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं प्रकाशकों में से कई व्यक्ति निबंध लेखक भी थे। इनमें ठाकुरजगमोहन सिंह; विष्णु लाल पण्ड्या, किशोरी लाल गोस्वामी, श्रीधर पाठक आदि प्रमुख हैं। इन लेखकों ने अपने लेखों में समाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और साहित्यिक विचारों की अभिव्यक्ति की है। 'राजा लक्ष्मण सिंह' हिन्दी गद्य साहित्य क्षेत्र में विशुद्ध हिन्दी का माध्यम लेकर आए। लेकिन उन्होंने अपने समय में प्रचलित अरबी-फारसी और अंग्रेजी के शब्दों का बहिष्कार किया। ऐसे ही समय में भाषा और साहित्य दोनों प्रभाव डालने वाले 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' का उदय हुआ। हिन्दी साहित्य के इस उदय काल में उनका व्यक्तित्व अप्रतिम था। उन्होंने अपनी रचनाओं में सरल, संस्कृत, तद्‌भव तथा देशज शब्दों, कहावतों, मुहावरों और सर्वसाधारण में प्रचलित 'विदेशी शब्दों' का प्रयोग किया। यह प्रयोग उनके सभी मार्गानुयायियों ने अपनी रचनाओं में भी किये।

'भारतेन्दु' जी हिन्दी गद्य साहित्य के जनक माने जाते हैं। इसी काल को हिंदी निबंध का 'उदय काल' या 'प्रादुर्भाव काल' स्वीकार करने में किसी को भी हिचक नहीं है। इस काल के हिन्दी निबन्धों का अधिकांश प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुआ जिसका उद्देश्य समाज की जर्ज़र रूढ़ियों पर प्रहार करना था। इसके अतिरिक्त नाटक, उपन्यास, जीवनी आदि विभिन्न साहित्य रूपों का निर्माण कर इन लेखकों ने गद्य साहित्य को एक ठोस रूप प्रदान किया। 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' ने भी भिन्न-भिन्न विषयों पर अपने निबन्ध लिखे। उनके निबन्ध प्रमुख रूप से 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में प्रकाशित हुए जिनका संग्रह डॉ० केशरी नारायण शुक्ल ने 'भारतेन्दु के निबन्ध' नाम से किया है। इनके निबन्धों को मुख्यतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है (१) सांस्कृतिक-सामाजिक विषयों से सम्बन्धित, (२) यात्रा वर्णन प्रधान तथा (३) हास्य-व्यंग्य प्रधान।

इनके निबन्धों में जीवन की स्वच्छन्दता, सप्राणता, भावोत्तेजना, व्यंग्य विनोद और आकर्षण के तत्त्व मिलते हैं। इनके निबन्धों की भाषा में स्वाभाविकता, सरलता और मधुरता प्राप्त होती है। इन्होंने अपने निबन्धों में किसी भी भाषा का प्रयोग व्यावहारिक ढंग से ही किया है। कहीं-कहीं तो वे शब्दों का नवीन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ निकालने के लिए उनकी व्याख्या अपने ढंग से करते हैं। वे यत्र-तत्र भाषा को आकर्षक बनाने के लिए मुहावरों का भी प्रयोग करते हैं। उनकी शैली निबन्धों की भाषा और विषयों के अनुकूल होती है। प्रायः व्यंग्यात्मक, भावात्मक और आत्मपरक शैलियों के दर्शन इनकी रचनाओं में होते हैं। वे अपनी शैली को पात्र, परिस्थिति, स्थान और कला के अनुसार बदलने में सर्वथा सक्षम दिखायी देते हैं। इस प्रकार से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निबन्धों में वे सभी विशेषताएँ पायी जाती हैं जो एक सफल निबन्धकार के लिए अपेक्षित है। वे हिन्दी साहित्य की प्रगति को एक निश्चित दिशा में प्रकट करने वाले दीप स्तम्भ हैं। इसलिए इस युग को 'भारतेन्दु युग' कहना भी अनुचित न होगा। इस युग के प्रमुख निबन्धकारों में वालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधारमण गोस्वामी, पण्डित वदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह। लाला श्री निवास दास, मोहन लाल विष्णुलाल पण्ड्या, काशी नाथ खत्री, अम्बिका दत्त व्यास, हरि मुकुन्द शर्मा आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु के वाद इस काल में यदि सर्वाधिक सफल लेखक तथा निवन्धकार कोई हुआ तो वह थे पं० वाल कृष्ण भट्ट। इन्होंने 'प्रदीप' नामक पत्रिका का सम्पादन बड़ी सफलता से किया था। इनके निवन्धों के तीन स्वरूप प्राप्त होते हैं:

(१) उर्दू-फारसी वाला स्वरूप (२) संस्कृत प्रधान रूप (३) समन्वयात्मक सामान्य रूप।

वालकृष्ण भट्ट के निवन्धों को विषय सामग्री की दृष्टि से छः भागों में विभक्त किया जा सकता है:

(क) विचित्र तथा असाधारण विषयों पर (ख) सामयिक विषयों पर (ग) काल्पनिक विषयों पर (घ) गम्भीर तथा शिक्षाप्रद (ङ) सामाजिक तथा राजनीतिक (च) भावात्मक।

भट्ट जी के निवन्धों में उनका प्राणवान व्यक्तित्व, मस्ती, हास्यविनोद, गम्भीर-ज्ञान एवं चिन्तन की प्रेरणा दिखाई देती है। उनके निवन्ध के शीर्षक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लम्बे, कहावतों अथवा मुहावरों पर आधारित हैं। उन्होंने अपने निबन्धों में उर्दू, अँग्रेजी, बंगला, संस्कृत और हिन्दी से सम्बन्धित शब्दावलियों का प्रयोग किया है। इनके निबन्धों में आलंकारिता तथा दुरूहता नहीं पायी जाती।

भारतेन्दु मण्डल के प्रमुख निबन्धकारों में पं० प्रताप नारायण मिश्र की गणना की जाती है। इन्होंने 'ब्राह्मण' नामक पत्रिका का सम्पादन करके अपने विचारों को जनसाधारण तक पहुँचाया। इनके विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है 'प्रताप नारायण जी में विनोदप्रियता विशेष थी, इसी से उनकी वाणी में व्यंग्यपूर्ण वक्रता की मात्रा प्रायः रहती है, इसके साथ ही वे पूरबीपन की परवाह न करके अपने 'बैसवारे' की ग्राम्य कहावतें और शब्द भी कभी कभी बेधड़क रख दिया करते थे। कैसा भी विषय हो उसमें विनोद और मनोरंजन की सामग्री ढूँढ़ लेते हैं।'[1] मिश्र जी के निबन्धों को प्रमुख रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है। (१) गम्भीर तथा चिन्तन पूर्ण, (२) हास्य व्यंगपूर्ण इनके निबन्ध साधारण से साधारण और गम्भीर से गंभीर विषयों पर लिखे गये हैं। इनके निबन्धों के शीर्षक सुन्दर, आकर्षक एवं मनोरंजक हैं। 'निबन्ध नवनीत' 'प्रताप पीयूष' 'प्रताप समीक्षा' और प्रताप नारायण ग्रंथावली में निबन्धों का संकलन प्राप्त होता है। इनके निबन्धों के विषय 'भौं', वृद्ध, 'ट', 'द', 'सोने का अण्डा', 'आप' आदि हैं। इनके निबन्ध प्रायः आत्मव्यंजक हैं। व्यंग्य-विनोद आत्मव्यंजक निबन्धों का विशिष्ट गुण है। इनके निबन्धों में गंभीरता, चुलबुलापन, हास-परिहास, विचारों की परिपक्वता आदि वस्तुएँ मिलती हैं। इनके निबन्धों में आत्मीयता, सरलता और स्वाभाविकता प्राप्त होती है। इन्होंने प्रायः कहावतों तथा मुहावरों का प्रयोग कर अपने निबन्धों में जान डाल दी है। हास-विनोद के पुट को बीच-बीच में रखना इनके निबन्धों की विशेषता है। भाषा में ग्रामीण शब्दावली के प्रयोग की अधिकता दिखायी देती है। इनका उक्ति-वैचित्र्य, फक्कपन एवं उच्छृंखलता आदि भाषा में चमत्कार पैदा कर देते हैं। शैली भावात्मक और आत्मव्यंजक है। मिश्र जी भाषा की

---

१. रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४२६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह शैली में स्वच्छन्द और स्वतंत्र रहे हैं। इनका व्यक्तित्व मनमौजीपन लिए रहता है। प्रो० ब्रह्मदत्त शर्मा ने इन्हें जन साहित्य का रचयिता कहा है।

हिन्दी निबन्ध का विकास काल (सन् १९०० ई० से १९२० ई० तक)

हिन्दी साहित्येतिहास के अन्तर्गत विकास काल को द्विवेदी युग की संज्ञा दी गयी है। इसे हिन्दी भाषा के परिष्कार का युग भी कहा जाता है। इस युग के लेखकों में महावीर प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों ही प्रभावशाली थे। अतः इतिहासकारों ने उन्हीं के नाम पर इस युग का नामकरण 'द्विवेदी युग' किया। इस युग में भारतेन्दु युग के लेखकों की चिन्तन धारा से बिल्कुल भिन्न साहित्यगत चिन्तन किया गया। द्विवेदी युगीन साहित्यकारों का प्रमुख उद्देश्य-पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित होकर हिन्दी साहित्य का सर्वांगीण विकास करना था। इस युग के लेखकों में भारतेन्दु युग जैसी स्वच्छन्दता वृत्ति नहीं पायी जाती और न तो उनमें आत्मप्रकाशन की स्पृहा ही थी। इस युग के अधिकतर साहित्यकार अध्यापन कार्य में प्रवृत्त रहे। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के सृजन क्षेत्र में निर्देशन सम्बन्धी 'अध्यापकीय शैली' को अपनाया गया। स्वयं द्विवेदी जी ने स्वतः साहित्य का सृजन किया और अपने अनुयायियों के लिए साहित्य निर्माण सम्बन्धी निर्देश भी दिए। अन्य लेखकों ने भी साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए भाषा के सुष्ठु प्रयोग और शिल्पगत वैशिष्ट्य की ओर ध्यान देना अपना लक्ष्य बनाया। इस युग में साहित्य समालोचकों का भी एक दल बन गया था। ये प्रबुद्ध साहित्यकार एवं समालोचक, समालोचना को भी साहित्य की एक स्वतंत्र विधा निश्चित कर चुके थे। वे इसके माध्यम से लेखकों का दिशा निर्देश और उनकी कृतियों की समीक्षा भी करते थे। इस युग के लेखकों ने अंग्रेजी के शिल्प का भी बहुत कुछ अध्ययन कर उसे हिन्दी साहित्य में अपनाने का प्रयास किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बेकन के सदृश विचार प्रधान निबन्धों को लिखा। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से उन्होंने निबन्धों में जितना परिष्कार किया वह श्लाघनीय है। उससे निबन्ध को एक नयी दिशा मिली। इस पत्रिका से निबन्धकारों को अपनी प्रतिभा प्रद-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शित करने का अवसर प्रदान किया। फलतः भारतेन्दु युग में गद्य का जो विकास हुआ था, वह इस युग में बहुमुखी होकर प्रकट हुआ। द्विवेदी युग में शब्द भण्डार की वृद्धि के अतिरिक्त गद्यगत विविध शैलियाँ भी अपनायी गयीं। इसमें कुछ तो मौलिक थीं, कुछ अनुकरण मात्र। इसमें अंग्रेजी की लाक्षणिता, बंगला की कोमलकान्त पदावली और उर्दू की मुहावरेदार शैलियाँ आती हैं। ये अनुकरण के आधार पर लेखकों द्वारा गृहीत थीं; लेकिन प्रेमचन्द और 'प्रसाद' जैसे लेखकों की कृतियों में उनकी निजी शैलियाँ दिखायी देती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य लेखकों ने आलोचनात्मक, हास्यात्मक, सम्वादात्मक, वर्णनात्मक, रूपकात्मक आदि विभिन्न शैलियों का उपयोग किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आलोचनात्मक, व्यंग्यात्मक और तर्कप्रधान शैलियों का आश्रय ग्रहण किया। प्रसाद ने अलंकृत भाषा शैली, पद्मसिंह शर्मा ने चुटीली व्यंग्यात्मक शैली, बाल-मुकुन्द ने व्यंग्यपूर्ण शैली अपनायी। भारतेन्दु युगीन हिन्दी साहित्य ने जो प्रासाद निर्मित किया, वह 'द्विवेदी युग' में आकर विशेष प्रकार की रंग-बिरंगी साज सज्जाओं से सुसज्जित हुआ। इस अलंकरण वृत्ति में देशी और विदेशी भाषाओं के प्रवाह का भी हृदयहारी समन्वय दृष्टिगत होता है।

इस युग के निबन्ध लेखकों में पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्याम सुन्दर दास, सरदार पूर्ण सिंह, माधव प्रसाद मिश्र, पद्म सिंह शर्मा, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाल मुकुन्द गुप्त, स्वामी सहदेव परिव्राजक, अनन्त राम पाण्डेय, माधव राव सप्रे, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी आदि हैं।

आचार्य द्विवेदी एक अच्छे भाषा परिष्कारक, सम्पादक, आलोचक, अनुवादक और निबन्धकार थे। इन्होंने भारतेन्दुयुगीन भाषागत, व्याकरण सम्बन्धी अशु-द्धियों को ध्यान में रख कर स्वतः रचनाएँ कीं और अपने अनुवर्ती लेखकों की रचनाओं का संशोधन भी किया। इन्होंने हिन्दी गद्य के लिए भाषा का एक सुनिश्चित रूप भी स्थिर किया। इनका कार्य 'सरस्वती' नामक पत्रिका से अनवरत चलता रहा। इनके निबन्धों में उपदेशात्मकता, परिचयात्मकता, सर-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लता और...विषयों की विभिन्नता पायी जाती है। भाषा संस्कृतनिष्ठ, वाक्य छोटे तथा शब्द चयन की अनुकूलता इनके निबन्धों की विशेषता है। द्विवेदी जी ने विषयप्रधान निबन्धों को लिखने का सर्वाधिक प्रचलन किया। द्विवेदी जी के निवन्धों की शैलियों को चार भागों में बाँटा जा सकता है :—(१) विचारात्मक (२) परिचयात्मक (३) वर्णनात्मक (४) समीक्षात्मक।

इन्होंने अधिकतर परिचयात्मक या वर्णनात्मक निबन्ध ही अधिक लिखा है। इस दृष्टि से द्विवेदी जी ने साहित्य, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शन पुराणेतिहास आदि विविध विषयों के सिद्धान्तों को सरल ढंग से अपने निबन्धों में स्थान दिया। संस्कृत से अलंकृत और काव्यात्मक गद्य से प्रभावित इनके कुछ भावात्मक निवन्ध भी प्राप्त होते हैं। इनके समीक्षात्मक निबन्धों में व्याव-हारिक एवं सैद्धान्तिक दोनों प्रकार के निबन्ध पाये जाते हैं।

द्विवेदी युगीन समीक्षात्मक निवन्धकार बाबू श्याम सुन्दर दास ने अध्या-पकीय शैली में वहुत से निबन्ध लिखे हैं, जो साहित्य रसिकों और छात्रों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुए। इन्होंने अधिकतर भाषा एवं साहित्य के विविध पक्षों पर गम्भीर शैली में निबन्धों की रचना की है। इनके निबन्धों का संकलन 'साहित्यालोचन' है।

हिन्दी निबन्ध का उत्कर्षकाल (सन् १६२० ई० से १६५५ ई० तक)

हिन्दी निबन्ध के इस काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रतिनिधित्व दिखायी देता है। यद्यपि शुक्ल जीं की लेखनी का प्रभाव द्विवेदी युग से ही दृष्टि-गोचर होने लगा था, परन्तु इस उत्कर्ष काल में उनके विचारों की प्रौढ़ता, गम्भीर अध्ययन की पटुता तथा सूक्ष्म निरीक्षण की योग्यता दिखायी पड़ने लगी। धीरे-धीरे वे ऐसे सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार के रूप में हिन्दी साहित्य जगत् में छा गये कि उनका विराट् व्यक्तित्व ही सर्वत्र दिखायी पड़ने लगा और लोगों ने इस काल को 'शुक्ल युग' तक की संज्ञा प्रदान की।

इस युग में विचारात्मक निबन्धों को विशेष महत्त्व दिया गया। इसमें बौद्धिकता का प्राबल्य था। स्वयं रामचन्द्र शुक्ल ने उसी निवन्ध को महत्त्वपूर्ण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माना जिसमें बुद्धि हृदय का समन्वय हो और एक बार उसे पढ़ने पर पाठक की बुद्धि उत्तेजना युक्त होकर नवीन विचार सरणि की ओर उन्मुख हो जाय। इनके निबन्धों में विचारों की अटूट श्रृंखला प्राप्त होती है। निबंध में पाठक की अभि-रुचि को बनाए रखने के लिए यत्र-तत्र हास्य एवं व्यंग्य का भी आश्रय ग्रहण किया गया है। इनके निबन्धों में मन के भावों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पूर्ण परिपक्वावस्था के लिखे गये निबन्ध 'विचार वीथी' के नाम से प्रकाशित हुए। इसके पश्चात् प्रौढ़ एवं उत्कृष्ट निबन्ध पुस्तकाकार के रूप में चिन्तामणि भाग १ तथा भाग २ के नाम से प्रका-शित हुए। इन निबन्धों में सुसंगठित एवं गुम्फित विचार श्रृंखला पायी जाती है। उनमें साहित्यिक सौंदर्य प्रचुर मात्रा में दिखायी देता है और ये शुक्ल जी के गहन अध्ययन एवं मनन के पूर्ण परिचायक हैं। उनमें विचारात्मक निबन्धों का चरमोत्कर्ष विद्यमान है। इन निबंधों में शुक्लजी का प्रत्येक वाक्य किसी न किसी खण्ड को संजोये रहता है। उनमें लोकमंगल की भावना व्याप्त दिखायी देती है। भाषा चुस्त एवं प्रौढ़ रूप में दृष्टिगत होती है। इनका लाक्षणिक पदावली का प्रयोग मार्मिक चमत्कार पैदा करता है। इनमें भाषा एवं व्याकरण सम्बन्धी शुद्धता आलंकारिता एवं विराम आदि चिह्नों के शुद्ध प्रयोग मिलते हैं।

आचार्य शुक्ल के निबन्ध तीन रूपों—(क) असंकलित रूप (ख) संकलित रूप (ग) भूमिका के रूप में प्राप्त होते हैं। प्रथम में इनके निबन्ध—साहित्य, उपन्यास और अपनी भाषा पर विचार-सम्बन्धी हैं। द्वितीय में मनोविकार तथा समीक्षात्मक निबन्ध आते हैं। तृतीय में तुलसी ग्रंथावली, जायसी ग्रंथावली भ्रमरगीत सार और भारतेन्दु साहित्य की भूमिकाएँ हैं।

शुक्ल युग के अन्य प्रमुख निबन्धकारों में बाबू गुलाब राय, जयशंकर प्रसाद, माखन लाल चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, निराला, नन्ददुलारे वाज-पेयी, राय कृष्ण दास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, शान्तिप्रिय द्विवेदी, वासु-देव शरण अग्रवाल, जैनेन्द्र कुमार, डॉ० रघुवीर सिंह, महादेवी वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, पण्डित राहुल सांस्कृत्यायन आदि हैं। इस युग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मूलतः देखा जाय तो निबंधगत विषय का वैविध्य है। ये निबन्ध ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा से सम्बद्ध हैं। इनमें आत्मकथ्य की पूर्णाभिव्यक्ति, गम्भीर आत्मचिन्तन, प्रवाहमय एवं प्रांजल भाषा का सुष्ठु प्रयोग, बुद्धि एवं हृदय का सुन्दर संयोग, भाषागत पाण्डित्य, अंग्रेजी शब्दों का उन्मुक्त प्रयोग और काव्य के विभिन्न गुणों पर आत्म चिन्तनाभिव्यक्ति आदि बातें अपने विशिष्ट रूप में पायी जाती हैं। उपर्युक्त निबन्धकारों के अतिरिक्त डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० भागवतशरण उपाध्याय, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, यशपाल, रामधारी सिंह दिनकर आदि निवन्धकार उल्लेखनीय हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी निवन्धकारों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैसे तो इनकी लेखनी से विचारात्मक आलोचनात्मक, भावात्मक और वर्णनात्मक आदि सभी प्रकार के निबन्धों का सृजन हुआ है। 'अशोक के फूल', 'कुटज' आदि व्यक्तिव्यंजक निबन्धों के संग्रह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये भारतीय संस्कृति के पोषक हैं। इन्होंने अपने साहित्य में विषय की दृष्टि से शिष्ट और लोक दोनों साहित्य का समन्वय किया है जिससे उनके प्राचीनतम ज्ञान एवं अधुनातन ज्ञान के समन्वय का परिचय मिलता है। इनके निबन्धों में कल्पना मनोरंजनात्मक उपादानों से मंडित दिखाई पड़ती है। यत्र-तत्र इनका पाण्डित्य और विनोदप्रियता का व्यक्तित्व भी निवन्ध की श्री में अभिवृद्धि करता है। इससे पाठक निवन्धगत अप्रासगिक बातों से खीझता नहीं। इनकी शैली कथात्मक है। इससे वे अपने विषयों को अतिरोचक और प्रभावपूर्ण वना देते हैं।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आचार्य शुक्ल की समीक्षा परम्परा को अपने ढंग के बढ़ाने वाले सफल एवं श्रेष्ठ समीक्षक हैं। इनके समीक्षात्मक निबन्ध विचारात्मक निवन्धों की श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। आपकी समीक्षा तार्किक और महत्त्वपूर्ण पकड़ आदि विशेषताओं से युक्त है। इसमें वैज्ञानिक दृष्टि से लेखक की मान्यताओं, विशेषताओं और मौलिक धारणाओं का बिना किसी पक्षपात के विवेचन प्राप्त होता है। इनके विचारात्मक निबन्ध विविध साहि-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्यकारों, उनकी कृतियों, साहित्यिक वादों और साहित्यिक गति विधियों से संबंद्ध हैं। वाजपेयी जी ने भूमिकाओं के रूप में भी बहुत से समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं। इनके समीक्षात्मक निबंधों में 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'जयशंकर प्रसाद', 'प्रेमचन्द', 'आधुनिक साहित्य' और 'नया साहित्य : नये प्रश्न।' ये सभी निबन्ध व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक उभय समीक्षाओं से सम्बद्ध हैं। वाजपेयी जी ने 'वैदिक दर्शन' जैसे उत्कृष्ट व्याख्यात्मक निबन्धों की रचना की है। आपकी भाषा संस्कृत गर्भित, बोधगम्य एवं संश्लिष्ट है। भाषा में प्रौढ़ता, प्रांजलता तथा गम्भीर व्यंजना शक्ति निहित है। शब्द भण्डार की दृष्टि से इन्होंने बहुत से पारिभाषिक शब्दों को भी अपने निबन्धों में स्थान दिया है। इनकी रचना-पद्धति भावुकता तथा कवित्व का पुट लिए हुए कलात्मक वैशिष्ट्य को प्रदर्शित करती है। इनकी गुण-दोष निरूपण की शैली बड़ी आकर्षक दिखाई देती है।

महादेवी वर्मा ने जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र में अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है, उसी प्रकार निबंध के क्षेत्र में भी उनका मौलिक चिन्तन, अद्भुत ज्ञान, अप्रतिम विश्लेषण पद्धति, विशिष्ट जीवन-दर्शन, अनुपम दृष्टिकोण दिखाई देता है। महादेवी जी ने अधिकांशतः विचारात्मक निवन्ध लिखे हैं जिनमें से कुछ संस्मरणात्मक, आलोचनात्मक, नारी समस्या मूलक कुछ अन्य विषयों से सम्बन्धित हैं। उनके प्रमुख निबन्ध संग्रहों में 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'श्रृंखला की कड़ियाँ', 'विवेचनात्मक गद्य', 'साहित्यकार की आस्था', 'क्षणदा', 'पथ के साथी' आदि हैं। इसके अतिरिक्त काव्य ग्रंथों की भूमिकाएँ भी उनके निबन्धगत चिन्तन की द्योतिका हैं। उनके रेखा-चित्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। 'क्षणदा' में संस्कृति, भाषा और यात्रा से सम्बंधित अनेक उत्कृष्ट निबन्ध संकलित हैं। इनकी भाषा शैली के चार रूप प्राप्त होते हैं—(१) विवेचनात्मक (२) चित्रात्मक (३) विचारात्मक (४) वर्णनात्मक। महादेवी जी ने इन्हीं शैलियों के माध्यम से अपने निबन्धों में कथ्य का बड़े कलात्मक ढंग से प्रतिपादन किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वियोगी हरि अपने भावात्मक निबन्धों के लिए प्रख्यात हैं। वैसे तो इन्होंने विचारप्रधान निबन्धों की रचना की है किन्तु उनमें भी भावात्मकता परिलक्षित होती है। इन्होंने अपने निबन्धों में विचारों एवं भावों के साथ आत्माभिव्यक्ति को प्रमुखता दी है। इनके निबन्धों में स्वयं के प्रति भक्ति और जीवनानुभूति की प्रधानता पायी जाती है। मनमोहकता, रसानुभूति, भाव-विह्वलता, हृदय रंज-कता, कथ्य को गद्य के छोटे-छोटे टुकड़ों में काव्यात्मक एवं आलंकारिक शैली में प्रतिपादन, कथन की सांकेतिकता प्रणाली एवं लाक्षणिक भावमयी अभिव्यंजना आदि विशेषताएँ इनके निबन्धों के आकर्षण गुण हैं। 'भावना', 'अन्तर्नाद', 'ठण्डे छोटें', 'साहित्य विहार' और तरंगिणी' आदि इनके निबन्धों का संग्रह हैं। वियोगी हरि ने अपने विचारों के प्रतिपादन के लिए चित्रात्मक, परिचयात्मक, तरंग-शैली और भाषा प्रयोग में संस्कृत प्रधान शैली को अपनाया है।

इस काल में विचारात्मक, समीक्षात्मक, व्यक्तिव्यंजक निबन्धों के अतिरिक्त कुछ 'गद्य काव्य' निबन्धों की रचना हुई है। 'गद्य काव्य' में भक्ति, प्रेम, करुणा आदि भावनाएँ लघु कल्पना चित्रों के माध्यम से प्रतीक पद्धति पर व्यक्त की गयीं। इसमें संक्षिप्तता, सांकेतिकता, भावुकता, अनुभूति की सघनता और रहस्यमयता आदि विशेषताएँ पायी जाती हैं। गद्य गीत (गद्य काव्य) का प्रारम्भ रायकृष्ण दास के 'साधना' संग्रह के प्रकाशन से हुआ। तत्पश्चात् वियोगी हरि के 'तरंगिणी' संग्रह के गद्यगीतों (गद्य काव्यों) का प्रचलन और भी बढ़ गया। इसके अनन्तर छायावाद युग में गद्य गीतों के रचना की प्रमुखता दिखायी पड़ती है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन लाल वर्मा, डॉ० रामकुमार वर्मा और अज्ञेय आदि के गद्यगीत भी उल्लेखनीय हैं। इनके वाद भी 'दिनेश नन्दिनी' डाल-मिया, डॉ० रघुवीर सिंह और रामवृक्ष वेनीपुरी आदि ने भी गद्यगीतों की सर्जना की है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल युगीन कुछ ऐसे निवन्धकार हैं जिनकी साहित्य सर्जना वर्तमान काल में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इनमें से कुछ ऐसे निबन्धकार हैं जो अपनी प्राचीन परम्परा (लीक) बनाए हुए हैं और कुछ वर्तमान युगीन विशेषताओं को अपने निबन्धों में समाहित कर अनवरत रूप से निवन्ध सर्जना में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगे हुए हैं। प्रथम में तो महादेवी वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की गणना की जा सकती है और द्वितीय में जैनेन्द्र कुमार और अज्ञेय का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' अपने गाम्भीर्यपूर्ण तथा लालित्य-पूर्ण निबन्धों के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके निबन्ध अधिकतर यात्रा सम्बन्धी हैं। इन्होंने आत्मकथात्मक, विचारात्मक, व्यक्तिव्यंजक, विवरणात्मक और समीक्षात्मक निबंध भी लिखे हैं। इन्होंने अपने विचार प्रधान निबंधों में साहित्यिक मान्यताओं की स्थापना की है। भाषा के आधुनिकीकरण एवं उनके नये प्रयोग 'अज्ञेय' की मौलिक विशेषता है। इनके निबन्धों में आत्मपरक शैली के दर्शन होते हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवेक्षण और सन्दर्भों की बहुलता 'अज्ञेय' के निबन्धों की अपनी एक अलग विशेषता है। इनके निबन्धों का संग्रह 'त्रिशंकु', 'आत्मने-पद, 'अरे यायावर रहेगा याद', 'एक बूंद सहसा उछली' आदि हैं।

(४) हिन्दी निबन्ध का वर्तमान काल (सन् १९५५ ई० से अद्यावधि)

आधुनिक काल की विषय परिस्थितियों ने हिंदी साहित्य की विविध विधाओं के साथ ही साथ हिन्दी निबन्ध साहित्य को भी बहुत प्रभावित किया। यह युग जीवन की जटिलता, व्यस्तता तथा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का संकुल है। निबन्ध के क्षेत्र में इन्हीं समस्याओं से प्रभा-वित होकर निबन्धकार अपनी साहित्य सर्जना कर रहा है। इन समस्याओं से प्रेरित होकर लोग एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ लगाते हुए व्यंग्य का भी आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। परिणामस्वरूप निबन्ध के विषय और उनके प्रति-पादन की योजना जो शुक्ल तथा उसके पूर्व के युगों में दिखायी देती है, अब उसका पूर्णतः तो नहीं कुछ न कुछ रूप में ह्रास दिखायी पड़ता है। इस काल में विचारात्मक निबन्ध कम लिखे गये। समीक्षात्मक निबन्ध, ललित निबन्ध, व्यंग्यात्मक निबन्ध और विभिन्न प्रकार के यात्रा वृत्तान्त, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, डायरी, भेंट वार्ता, पत्र साहित्य आदि की बहुलता दिखायी पड़ती है। इनमें व्यक्तिव्यंजक निबंधों की विशेषताएँ दिखायी पड़ती हैं। इस काल के निबन्धकारों में डॉ० नगेन्द्र, गजानन माधव मुक्तिबोध, डॉ० विद्या निवास मिश्र, नलिन विलो-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चन शर्मा, प्रभाकर माचवे, रामरतन भटनागर, रामविलास शर्मा, भगीरथ मिश्र, इन्द्रनाथ मदान, डॉ० नामवर सिंह, कुबेरनाथ राय, धर्मवीर भारती, ठाकुर प्रसाद सिंह, शिवप्रसाद सिंह, हरिशंकर परसाई, श्रीलाल शुक्ल, शरद जोशी, डॉ० रघुवंश, रमेश कुन्तल मेघ, राजकमल चौधरी, रवीन्द्र नाथ त्यागी तथा डॉ० श्रीप्रसाद आदि हैं।

डॉ० नगेन्द्र मुख्यतः आलोचनात्मक निबन्धकार हैं। इनके निबन्धों में शोध और समीक्षा की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। ये आचार्य शुक्ल एवं 'फ्रायड' की परम्परा के पोषक हैं। इनके निबन्ध शास्त्रीय तर्कप्रधान एवं गवेषणापूर्ण होते हैं। इन्होंने अपने निबन्धों में तुलनात्मक, व्यंग्यात्मक, सम्वादात्मक, भावात्मक, परिचयात्मक, प्रश्नोत्तरात्मक आदि विविध प्रकार की शैलियों को स्थान दिया है। 'विचार और विवेचन', 'विवेचन और विश्लेपण', 'विचार और अनुभूति' आपके प्रसिद्ध निबन्ध संग्रह हैं।

गजानन माधव मुक्तिबोध एक गम्भीर चिन्तन और जीवन मर्म के वास्तविक अनुभावक थे। उनके निबन्ध मनुष्य के जीवन के संघर्ष को मूर्तिमान करते हैं। इनकी रचनाएँ अधिकांशतः 'कर्मवीर', 'हंस', 'कल्पना', 'ज्ञानोदय', 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' आदि में प्रकाशित होती रही हैं। 'नये निबन्ध', 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष', कामायनी एक पुर्नविचार', एक साहित्यिक की डायरी' और 'नये साहित्य' का सौंदर्य-शास्त्र' आदि इनके समीक्षात्मक ग्रंथ हैं। .'मुक्तिबोध' कलाकार की स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति पर बहुत जोर देते थे। 'एक साहित्यिक की डायरी' संग्रह डायरी विधा के रूप में लिखे गये निबन्धों का संकलन है जिसमें निबन्धों का प्रारम्भ सीधा-साधा और एकालाप तथा काल्पनिक पालों के सम्वादों से आद्यन्त ओत-प्रोत है।

वर्तमान काल के निबन्धकारों में डॉ० विद्यानिवास मिश्र अग्रणी हैं। यदि कहा जाय कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाद सांस्कृतिक सन्दर्भों में लोक-परम्परा को रंजक एवं रोचक शैली में अभिव्यक्त करने वाले पण्डित विद्यानिवास मिश्र ही हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इनके निबन्ध गहन अनुभूति एवं चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति के परिचायक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। लोकजीवन तथा लोक संस्कृति के श्रृंगार की अभिव्यक्ति के साथ जीवन की विविध विसंगतियों एवं विषमताओं का आपके निबन्धों में सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है। आपके निबन्ध राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक तथा पौराणिक विषयों से सम्पन्न दिखायी देते हैं। इनमें कहीं-कहीं पर व्यंग्य-विनोद, हास-परिहास के साथ-साथ वर्तमान विपथगाओं पर तीव्र कटाक्ष मिलता है, जो राष्ट्रीय भावना को जागृत करने में सक्षम हैं। इनमें राष्ट्रीयता एवं देश भक्ति की उद्दाम भावनाएँ मिलती हैं। इनकी रचना शैली कवित्वमयी, संस्कृत-निष्ठ पदावली से युक्त है; जिसमें यत्र-तत्र लोक प्रचलित हिन्दी-उर्दू, अंग्रेजी तथा आंचलिक भाषाओं के शब्द, लोक प्रचलित मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग मिलते हैं। मिश्र जी ने अधिकांशतः ललित निबन्धों के कारण ही ख्याति प्राप्त की है। इनकी निबन्धगत रचना प्रक्रिया को ध्यान में रखकर इनके निबन्धों को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : प्रथम-वैयक्तिक निबन्ध द्वितीय-समीक्षात्मक निबन्ध। प्रथम में 'छितवन की छाँह', 'तुम चन्दन हम पानी', 'आगन का पंछी और बनजारा मन', 'वसन्त आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं 'मैंने सिल पहुँचाई', 'मेरे राम का मुकुट भींग रहा है' आदि संकलित निबन्ध संग्रह हैं। द्वितीय में 'हिन्दी की शब्द-सम्पदा' और 'रीतिविज्ञान' आदि ग्रंथों को रखा जा सकता है।

डॉ० मिश्र के बाद कुबेरनाथ राय का नाम ललित निबन्धकारों में महत्त्व-पूर्ण है। इनके निबन्धों में ललित निबन्धों की विकासोमुखी कला दिखायी देती हैं। उनमें वैयक्तिकता का सर्वत्र प्राधान्य है। आत्मपरक शैली में लिखे गये इनके निबन्ध पाठकों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इनके निबन्धों को पढ़ने से पाठक को कहानी जैसा आनन्द, कविता जैसा आकर्षण और उपन्यास जैसी जिज्ञासा प्राप्त होती हैं। 'प्रिय नील कण्ठी', 'कामधेनु', 'महा कवि की तर्जनी' और 'किरात नदी में चन्द्रमधु तथा पर्ण मुकुट' 'रस आखेटक', 'गन्धमादन' विषादयोग, निषाद बाँसुरी आदि इनके निबन्ध संग्रह हैं। आपके प्रायः सभी निबन्ध ललित निबन्ध की कोटि में आते हैं; किन्तु विषय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैविध्य की दृष्टि से वे भावात्मक, विचारात्मक, वर्णनात्मक वर्गों में रखे जा सकते हैं।

इस युग के अन्य प्रभावशाली, व्यक्तित्व सम्पन्न समीक्षक तथा निबन्धकार डॉ० शिव प्रसाद सिंह का नाम उल्लेखनीय है। इनके निबन्धों का संग्रह 'शिखरों के सेतु', 'कस्तूरी मृग' और 'चतुर्दिक' आदि हैं। इनके निबन्ध अधिकतर समीक्षात्मक, गवेषणापूर्ण विचारप्रधान और व्यंजक हैं। ललित निबन्धकार के रूप में आपको काफी ख्याति प्राप्त हुई है। ये आचार्य शुक्ल एवं डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी की परम्परा के निबन्धकार होते हुए भी आधुनिक व्यंग्य प्रधान-ललित निबन्ध लिखने में काफी सिद्धहस्त हैं। इनके समीक्षात्मक निबन्ध भी काफी महत्वपूर्ण हैं।

भारतेन्दु काल के पश्चात् हिन्दी साहित्य में हास्यव्यंग्य साहित्य का प्रणयन प्रायः बन्द-सा हो गया था लेकिन हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल इस अभाव की पूर्ति कर रहा है। हास्य-व्यंग्य प्रधान निबन्धकारों में बेचन शर्मा 'उग्र' अन्नपूर्णानन्द, श्री कृष्ण प्रसाद गौड़ 'बेढ़ब बनारसी', 'नर्मदा प्रसाद खरे', 'हरिशंकर परसाई, श्रीलाल शुक्ल, शरद जोशी, रवीन्द्र त्यागी आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इन निबन्धकारों ने व्यंग्य हास्य के माध्यम से आधुनिक युग में व्याप्त सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, समस्याओं और विषमताओं पर गम्भीर व्यंग्य और कटूक्ति की है। इन निबन्धकारों ने हिन्दी-निबन्ध साहित्य में व्याप्त नीरसता और अति बौद्धिकता को दूर कर उसे लोकप्रिय बनाने का सफल प्रयास किया है।

हरिशंकर परसाई ने हिन्दी साहित्य में व्यंग्य-विनोद पूर्ण लघु निबन्ध लिखने में अच्छी ख्याति प्राप्त की है। इनके अधिकतर निबन्ध 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' एवं 'धर्मयुग' नामक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। परसाई के निबन्ध व्यक्ति और समाज की कमजोरियों एवं विसंगतियों पर तीखा व्यंग्य करते हैं। इनकी कथ्य प्रतिपादन की शैली व्यंग्यप्रधान है। इनके व्यंग्य का विषय सामाजिक और राजनीतिक है। परसाई जी उपयुक्त स्थान के लिए उपयुक्त व्यंग्योत्पादक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थपूर्ण शब्दों का चयन करते हैं इनके निबन्धों का संग्रह 'तब की तब और थी', 'वेईमान के परत' 'पगडंडियों का जमाना', 'सदाचार की तावीज', 'शिकायत मुझे भी है' तथा 'और अन्त में' आदि हैं।

पण्डित श्रीलाल शुक्ल भी हिन्दी निवन्ध साहित्य के व्यंग्य निवन्धकारों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनके निवन्ध साहित्य गीत, कला, यात्रा, संस्मरण, पुराणेतिहास आदि से अपरम्परित रूप से सम्वन्धित हैं। इनकी शैली भारतेन्दु युगीन शैली से भिन्न और अधिक सशक्त है। अपने समीप और दूर से संबंधित तथा सुपरिचित यथार्थ का दृष्टि सम्पन्न संयोजन सम्प्रेषण श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्यों की विशेषताएँ हैं। इनके व्यंग्य निबन्धों का संग्रह 'अंगद का पाँव' तथा 'यहाँ से वहाँ' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जिसमें भारतीय समाज की विसंगतियों का वेजोड़ और सार्थक व्यंग्य रूप में चित्रण है।

नव लेखन युग के सफल निबन्धकारों में डॉ० श्रीप्रसाद अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनके निबन्धों में सामाजिक समता, भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग और संसार की नश्वरता के प्रति आस्था दिखाई देती है। अपनी सर्जनाओं में ये मानव के चारित्रिक विकास पर विशेष बल देते हुए दिखाई पड़ते हैं। आदर्श चरित्र, आदर्श नागरिक का निर्माण इनकी साहित्य सर्जना का मुख्य लक्ष्य दिखाई देता है। नीरस विषय को भी सरस रूप में प्रकट कर देने की इनमें अद्भुत क्षमता है। 'कंचनमृग', 'पतझड़ सन्देश' आदि इनके उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध है। इनके निवन्ध व्यक्तिव्यंजक ललित निवन्धों की कोटि में आते हैं।

इस प्रकार हिन्दी का निवन्ध साहित्य अपने सम्यक् रूप में भारतेन्दु काल से होता हुआ लगभग डेढ़ सौ वर्षों में आज प्रत्येक दृष्टि से विकसित एवं सम्बर्द्धित होता हुआ अनवरत रूप से आगे की ओर वढ़ता जा रहा है। इस प्रगति में अनेक नये प्रतिभा सम्पन्न लेखक, सर्जक निवन्धकार अपनी प्रतिभा को प्रकट करते हुए दीख पड़ते हैं। सम्प्रति विषय वैविध्य के साथ ही साथ विविध शैलियों से मण्डित और निवन्धकारों के अप्रतिम विद्वत्तापूर्ण व्यक्तित्व से बँध कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी निबन्ध साहित्य अपने चरमोत्कर्ष पर है तथा निरन्तर विकास की ओर अग्रसरित हो रहा है।

हिन्दी निवन्ध साहित्य के विविध रूपों—विषयनिष्ठ (वस्तुनिष्ठ), विषयीनिष्ठ (व्यक्ति व्यंजक), गद्य काव्य, ललित-निबन्ध, संस्मरण तथा व्यंग्यप्रधान निवन्ध को ध्यान में रख कर उनके प्रतिनिधि निबन्धों का संकलन 'हिंदी निबंध: एक यात्रा' नामक इस संग्रह में किया गया है। इस संकलन में निबन्ध के ऐतिहासिक विकास क्रम तथा उनके स्वरूप को ध्यान में रखकर विषय सामग्री का चयन किया गया है।

आशा है हिन्दी साहित्य के अध्येताओं के लिए यह संग्रह उयादेय होगा।

मैं उन समस्त निवन्धकारों और प्रकाशकों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके निवन्ध इस संकलन में संगृहीत हैं। अपने गुरुजनों तथा मित्रों का भी अत्यन्त आभारी हूँ जिनके सत्परामर्श से यह प्रस्तुत संकलन प्रस्तुत करने में सफलता मिली है। अन्त में मैं इस संग्रह के प्रकाशक लोकभारती प्रकाशन के स्वत्वाधिकारियों को भी साधुवाद देना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ।

—सिद्धिनाथ श्रीवास्तव

अनन्त चतुर्दशी
सम्वत २०३६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

१—आप	पं० प्रतापनारायण मिश्र	१
२—कवि कर्त्तव्य	महावीर प्रसाद द्विवेदी	७
३—लोभ और प्रीति	पं० रामचन्द्र शुक्ल	२२
४—देवदारु	हज़ारी प्रसाद द्विवेदी	४५
५—छायावाद	आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी	५७
६—अन्तर्नाद	श्री वियोगी हरि	६६
७—साहित्य और साहित्यकार	महादेवी वर्मा	७२
८—भारतीयता	स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'	८६
९—कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी	गजानन माधव 'मुक्तिबोध'	६१
१०—मेरे राम का मुकुट भीग रहा है	विद्या निवास मिश्र	१०८
११—मन का दर्पण बनाम कुछ न होने का कुछ	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	११७
१२—सदाचार का तावीज़	हरिशंकर परसाई	१३१
१३—'झरते क्षणों का पर्ण-मुकुट'	कुबेरनाथ राय	१३७
१४—अंगद का पाँव	श्रीलाल शुक्ल	१५२
१५—पतझड़ संदेश	डॉ० श्रीप्रसाद	१५८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१ | आप

पंडित प्रतापनारायण मिश्र

ये भला वतलाइए तो आप क्या हैं ? आप कहते होंगे, वाह आप तो आप ही हैं, यह कहाँ की आपदा आई ? यह भी कोई पूछने का ढङ्ग है ? पूछा होता कि आप कौन हैं तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप ब्राह्मण-संपादक हैं, अथवा आप पंडित जी हैं, आप राजा जी हैं, आप सेठ जी हैं, आप लाला जी हैं, आप बाबू साहब हैं, आप मियाँ साहब, आप निरे साहब हैं। आप क्या हैं ? यह कोई प्रश्न की रीति ही नहीं है वाचक महाशय ! यह हम भी जानते हैं कि आप आप ही हैं, और हम भी वही हैं, तथा इन साहबों की भी लंबी धोती, चमकीली पोशाक, खुंटिहई अंगरखी (मिरजई), सीधी माँग, विलायती चाल, लंबी दाढ़ी और साहबानी हवस ही कहे देती है कि—

"किस रोग की हैं आप दवा कुछ न पूछिए।"

अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यों पूछा ? इसीलिए कि देखें आप (आप) का ज्ञान रखते हैं वा नहीं, जिस आपको आप अपने लिये तथा औरों के प्रति दिन रात मुंह पर धरे रहते हैं, वह आप क्या है ? इसके उत्तर में आप कहिएगा कि एक सर्वनाम है, जैसे मैं, तू, हम, तुम, यह, वह आदि हैं वैसे ही आप भी है, और क्या है, पर इतना कह देने से न हमी संतुष्ट होंगे न आप ही के शब्द-शास्त्र-ज्ञान का परिचय होगा। इससे अच्छे प्रकार कहिए कि जैसे "मैं" का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिये बिल्ली की बोली का अनुकरण है, "तू" का शब्द मध्यम पुरुष की तुच्छता व प्रीति सूचित करने के अर्थ में कुत्ते के संबोधन की नकल है; हम, तुम संस्कृत के अहं त्वं का अपभ्रंश हैं यह वह निकट और दूर की वस्तु वा व्यक्ति के द्योतनार्थ स्वाभाविक उच्चारण हैं, वैसे 'आप' क्या है, किस भाषा के किस शब्द का शुद्ध वा अशुद्ध रूप है और आदर ही में बहुधा क्यों प्रयुक्त होता है ?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुजूर की मुलाजमत से अक्ल ने इस्तेअफा दे दिया हो तो दूसरी बात है, नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि "आप" लफज फारसी या अरबीस्त, अथवा 'ओः इटिज ऐन इँगलिश वर्ड'। जब यह नहीं हैं तो खाहमखाह यह हिंदी शब्द है, पर कुछ सिर पैर मूड़ गोड़ भी है कि यों ही ? आप छूटते ही सोच सकते हैं कि संस्कृत में आप कहते हैं जल को, और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि के आदि में उसी को बनाया था, यथा—'अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्', तथा हिंदी में पानी और फारसी में आब का अर्थ शोभा अथच प्रतिष्ठा आदि हुआ करता है, जैसे 'पानी उतरिगा तरवारिन को उइ करछुलि के मोल बिकायँ" तथा "पानी उतरि गा रजपूती का उइ फिर बिसुओ ते (वेश्या से भी) बहि जायँ", और फारसी में 'आबरू खाक में मिला बैठे' इत्यादि।

इस प्रकार पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी के नाम से आप पुकारने लगे होंगे। यह आपका समझना निरर्थक तो न होगा, बड़प्पन और आदर का अर्थ अवश्य निकल आवेगा, पर खींच खाँचकर, और साथ ही यह शंका भी कोई कर बैठे तो अयोग्य न होगी कि पानी के जल, वारि, अंबु, नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम हैं उनका प्रयोग क्यों नहीं करते, 'आप' ही को सुर्खाब का पर कहाँ लगा है ? अथवा पानी की सृष्टि सबके आदि में होने के कारण वृद्ध ही लोगों को उसके नाम से पुकारिए तो युक्तियुक्त हो सकता है, पर आप तो अवस्था में छोटों को भी आप आप कहा करते हैं, यह आपकी कौन सी विज्ञता है ? या हम यों भी कह सकते हैं कि पानी में गुण चाहे जितने हों, पर गति उसकी नीच ही होती है। तो क्या आप हमको मुँह से आप-आप करके अधोगामी बनाया चाहते हैं ? हमें निश्चय है कि आप पानीदार होंगे तो इस बात के उठते ही पानी-पानी हो जायँगे, और फिर कभी यह शब्द मुँह पर भी न लावेंगे।

सहृदय सुहृद्गण आपस में आप-आप की बोली बोलते भी नहीं हैं। एक हमारे उर्दूदाँ मुलाकाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते-जाते थे, पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का-सा देखा तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामने की बात न्यारी है, अकेले में अथवा अपनायतवालों के आगे आप आप न किया करो, इसमें भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है। पर वह इस बात को न माने, हमने दो चार बार समझाया पर वह "आप" थे क्यों मानने लगे? इस पर हमें झुंझलाहट छूटी तो एक दिन उनके आते ही और 'आप" का शब्द मुँह पर लाते ही हमने कह दिया कि आप की ऐसी तैसी! यह क्या बात है कि तुम मित्र बनकर हमारा कहना नहीं मानते? प्यार के साथ तू कहने में जितना मजा आता है उतना बनावट से आप साँप कहो, तो कभी सपने में नहीं आने का। इस उपदेश को वह मान गए। सच तो यह है कि प्रेम शास्त्र में, कोई बंधन न होने पर भी इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम, वरंच नहीं के बराबर होता है।

हिंदी की कविता में हमने दो ही कवित्त इससे युक्त पाए हैं, एक तो 'आप को न चाहै ताके बाप को न चाहिए', पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रंथ का है, और न इसका आशय स्नेह संबद्ध है। किसी जले भुने कवि ने कह मारा हो तो यह कोई नहीं कह सकता कि कविता में भी "आप" की पूछ है। दूसरी घनानंदजी की यह सवैया है—"आपहि तौ मन हेरि हर्‌यो तिरछे करि नैनन नेह के चाव में" इत्यादि। पर यह भी निराशापूर्ण उपालंभ है। इससे हमारा यह कथन कोई खंडन नहीं कर सकता कि प्रेम समाज में "आप" का आदर नहीं है, तू ही प्यारा है।

संस्कृत और फारसी के कवि भी त्वं और तू के आगे भवान् और शुमा (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नहीं करते। पर इससे आपको क्या मतलब? आप अपनी हिंदी के 'आप' का पता लगाइए, और न लगे तो हम बतला देंगे। संस्कृत में एक आप्त शब्द है जो सर्वथा माननीय ही अर्थ में आता है यहाँ तक कि न्यायशास्त्र में प्रमाण चतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द) के अंतर्गत शाब्द प्रमाण का लक्षण ही यह लिखा है कि 'आप्तोपदेशः शब्दः' अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही प्रामाणिक होता है, वा यों समझ लो कि आप्तजन प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्दबद्ध करते हैं। इससे जान पड़ता है कि जो सब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार कि विद्या, बुद्धि, सत्य-भाषणादि सद्गुणों से संयुक्त हो वह आप्त है, और देवनागरी भाषा में आप्त शब्द सबके उच्चारण में सहजतया नहीं आ सकता। इससे उसे सरल करके आप बना लिया गया है और मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यंत आदर का द्योतन करने में काम आता है। तुम बहुत अच्छे मनुष्य हो' और 'यह बड़े सज्जन हैं'—ऐसा कहने से सच्चे मित्र बनावट के शत्रु चाहे जैसे 'पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता' हो जायँ, पर व्यवहारकुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सम्मान समझेंगे जब कहा जाय कि "आपका क्या कहना है, आप तो बस सभी बातों में एक ही हैं" इत्यादि।

अब तो आप समझ गए होंगे कि आप कहाँ के हैं, कौन हैं, कैसे हैं। यदि इतने बड़े बात के बतंगड़ से भी न समझे हों तो इस छोटे से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि 'आप' संस्कृत के आप्त शब्द का हिंदी रूपांतर है; और माननीय अर्थ से सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान हों चाहे बातें करते हों, चाहे बात करने वालों के द्वारा पूछे बताए जा रहे हों अथवा दो वा अधिक जनों में जिनकी चर्चा हो रही हो। कभी-कभी उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है, वहाँ भी शब्द और अर्थ वही रहता है, पर विशेषता यह रहती है कि एक तो सब कोई अपने मन से आपको (अपने तईं) आप ही (आप्त) समझता है, और विचार कर देखिए तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रूपता कहीं लेने भी नहीं जाने पड़ती पर वाह्य व्यवहार में अपने को आप कहने से यदि अहंकार की गंध समझिए तो यों समझ लीजिए कि जो काम अपने हाथ से किया जाता है, और जो बात अपनी समझ स्वीकार कर लेती है उसमें पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है, और उसी के विदित करने को हम और आप तथा यह एवं वे कहते हैं कि 'हम आप कर लेंगे' अर्थात् कोई संदेह नहीं है कि हमसे यह कार्य संपादित हो जायगा, 'हम आप जानते हैं', अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नहीं है, इत्यादि।

महाराष्ट्रीय भाषा के आपाजी भी उन्नीस विस्वा आप्त और आर्य के मिलने से इस रूप में हो गए हैं, तथा कोई माने या न माने, पर हम मना सकने का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहस रखते हैं कि अरबी के अब्ब (पिता बोलने में अब्बा) और यूरोपीय भाषाओं में पाया (पिता), पोप (धर्म पिता) आदि भी इसी आप से निकले हैं। हाँ, इसके समझने-समझाने में भी जी ऊबे तो अँगरेजी के एबाट (Abot महंत) तो इसके हुई हैं, क्योंकि उस बोली में ह्रस्व और दीर्घ दोनों आकार का स्थानापन्न A है, और 'पकार' को 'बकार' से बदल लेना कई भाषाओं की चाल हैं। रही (T) सो वह तो 'तकार' हुई है। फिर क्या न मान लीजिएगा कि एबाट साहब हमारे (आप) वरंच शुद्ध आप्त से बने हैं।

हमारे प्रांत में बहुत से उच्च वंश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे कोई कोई लोग समझते हैं कि मुसलमानों के सहवास का फल है, पर यह उनकी समझ ठीक नहीं है। मुसलमान भाइयों के लड़के कहते हैं अब्बा और हिंदू संतान के पक्ष में 'बकार' उच्चारण तनिक भी कठिन नहीं होता; वह अँग्रेजों की तकार और फारसवालों की टकार नहीं है कि मुँह ही से न निकले और सदा मोती का मोटी अर्थात् स्थूलांग स्त्री और खस की टट्टी का तत्ती अर्थात् गरम ही हो जाय, फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा ! हाँ, आप्त से आप और अप्पा तथा आपा की सृष्टि हुई है, उसी को अरबवालों ने अब्बा में रूपांतरित कर लिया होगा, क्योंकि उनकी वर्णमाला में 'पकार' (पे) नहीं होता, सौ बिस्वा, बप्पा, बापू, बब्बा बाबा, बाबू आदि भी इसी से निकले हैं, क्योंकि जैसे एशिया की कई बोलियों में 'पकार' को 'बकार' व 'फकार' से बदल लेते हैं, जैसे पादशाह-बादशाह और पारसी-फ़ारसी आदि, वैसे ही कई भाषाओं में शब्द के आदि में 'बकार' भी मिला देते हैं, जैसे वक्ते शब—बवक्ते शब तथा तंग आमद—बतंग इत्यादि, और शब्द के आदि के ह्रस्व अकार का लोप भी हो जाता है, जैसे अमावस का मावस (सतसई आदि ग्रंथों में देखो) ह्रस्व अकारांत शब्दों में अकार के बदले ह्रस्व को दीर्घ उकार भी हो जाता है, जैसे एक-एकु स्वाद-स्वादु आदि, अथवा ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व अ, इ, उ, आदि, वृद्धि वा लोप भी हुआ ही करता है, फिर हम क्यों न कहें कि जिन शब्दों में अकार और पकार का संपर्क हो, एवं अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती हो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह प्राय! समस्त संसार के शब्द हमारे आप्त महाशय या आप ही के उलट फेर से बने हैं।

अब तो आप समझ गए न, कि आप क्या हैं ? अब भी न समझे तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं ! हाँ, आप ही को उचित होगा कि दमड़ी छदाम की समझ किसी पंसारी के यहाँ से मोल ले आइए, फिर आप ही समझने लगिएगा कि आप "को हैं ? कहाँ के हैं ? कौन के हैं ?" यदि यह भी न हो सके, और लेख पढ़ के आपे से बाहर हो जाइए तो हमारा क्या अपराध है ? हम केवल जी में कह लेंगे "शाब ! आप न समझो तो आपाँको के पड़ी छे" । ऐं ! अब भी नहीं समझे ? वाह रे आप !

●●

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२ | कवि-कर्त्तव्य

महावीर प्रसाद द्विवेदी

कवि-कर्त्तव्य से हमारा अभिप्राय हिन्दी के कवियों के कर्त्तव्य से है। समय और समाज की रुचि के अनुसार सब बातों का विचार करके हम यह लिखना चाहते हैं कि कवि का कर्त्तव्य क्या है। अपने मनोगत विचारों को हम थोड़े ही लिखना चाहते हैं।

अतः इस लेख को हम चार ही भागों में विभक्त करेंगे, अर्थात्—छन्द, भाषा, अर्थ और विषय। इन्हीं की यथाक्रम हम समीक्षा आरम्भ करते हैं।

छन्द

गद्य और पद्य दोनों ही में कविता हो सकती है। यह समझना अज्ञानता की पराकाष्ठा है कि जो कुछ छन्दोबद्ध है सभी काव्य है। कविता का लक्षण जहाँ कहीं पाया जाय, चाहे वह गद्य में हो चाहे पद्य में वही काव्य है। लक्षण-हीन होने से कोई भी छन्दोबद्ध लेख काव्य नहीं कहलाये जा सकते और लक्षण-युक्त होने से सभी गद्य-बन्ध काव्य-कक्ष में सन्निविष्ट किये जा सकते हैं, गद्य के विषय में कोई विशेष निर्दिष्ट करने की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी पद्य के विषय में है। इसलिये हम यहाँ पर पद्य ही का विचार करेंगे। भाषा, अर्थ और विषय के सम्बन्ध में जो कुछ हम कहेंगे वह गद्य के सम्बन्ध में भी, प्रायः समान-भाव से प्रयुक्त हो सकेगा।

जिन पंक्तियों में वर्णों या मात्राओं की संख्या नियमित होती है, वे छन्द कहाती हैं, और छन्दों में जो कुछ कहा जाता है, वह पद्य कहलाता है। कोई कोई छन्द और पद्य दोनों को एक ही अर्थ का वाचक मानते हैं।

जो सिद्ध कवि हैं वे चाहे जिस छन्द का प्रयोग करें, उनका पद्य अच्छा ही होता है, परन्तु सामान्य कवियों के विषय के अनुकूल छन्द योजना करनी चाहिये। जैसे समयविशेष में रागविशेष के गाये जाने से चित्त अधिक चमत्कृ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है, वैसे ही वर्णन के अनुकूल वृत्त-प्रयोग करने से कविता का आस्वादन करने वालों को अधिक आनन्द मिलता है। गले में डाली हुई मेखला के समान वृत्त-रूपिणी हार-लता को अनुचित स्थान में विनिवेशित करने से कवि की अज्ञानता दर्शित होती है। इस लेख में हम इस बात का विवेचन नहीं करना चाहते कि किस विषय के लिये कौन-सा छन्द प्रयोग में लाना चाहिए। काव्य के मर्मज्ञ निपुण कवि स्वयमेव जान सकते हैं कि कौन-सा छन्द कहाँ विशेष शोभा-वर्धक होगा। प्राचीन संस्कृत कवि इसका पूरा-पूरा विचार रखते थे। उन्होंने ऋतुओं का वर्णन प्रायः उपजाति छन्द में किया है, नीति का वंशस्थ में किया है, चन्द्रोदयादि का रथोद्धता में किया है, वर्षा और प्रवास का मन्दाक्रान्ता में किया है और स्तुति, शौर्य आदि का शार्दूल-विक्रीड़ित और शिखरिणी में किया है। यही नहीं; वृत्त-रचना में छन्दशास्त्र के नियमों के अतिरिक्त वे लोग और-और विषयों का भी ध्यान रखते थे। दोधक-वृत्त का लक्षण तीन भगण और दो गुरु हैं। इस नियम का प्रतिपालन करते हुए वे तीन ही तीन अक्षर वाले शब्द-प्रयोग करते थे, जिससे छन्द की शोभा विशेष बढ़ जाती थी। तोटक में वे रूखे अक्षर वाले ही शब्द रखते थे; क्योंकि ऐसे अक्षर वाले शब्दों से संगठित हुआ तोटक, ताल की द्रुतगति के समान, मन को सविशेष आनन्द प्रदान करता है। हिन्दी के कवियों को भी इन बातों का विचार करना चाहिए।

दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिंदी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिये कि यदि वे लिख सकते हैं, तो इनके अतिरिक्त और-और भी छन्द भी लिखा करें। हम यह नहीं कहते कि ये छन्द नितान्त परित्यक्त ही कर दिये जायँ। हमारा अभिप्राय यह है कि इनके साथ साथ संस्कृत-काव्यों में प्रयोग किये गये वृत्तों में से दो-चार उत्तमोत्तम वृत्तों का भी प्रचार हिन्दी में किया जाय। इन वृत्तों में द्रुतविलम्बित, वंशस्थ और वसन्त-तिलका आदि वृत्त ऐसे हैं जिनका प्रचार हिन्दी में होने से हिन्दी-काव्य की विशेष शोभा बढ़ेगी। किसी-किसी ने इन वृत्तों का प्रयोग भी आरम्भ कर दिया है। यह सूचना उन्हीं लोगों के लिए है जो सब प्रकार के छन्द लिखने में समर्थ हैं, जो घनाक्षरी और दोहे अथवा चौपाई की सीमा उल्लंघन करने में असमर्थ हैं, उनके लिए नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजकल की बोलचाल की हिन्दी की कविता उर्दू के विशेष प्रकार के छन्दों में अधिक खुलती है, अतः ऐसी कविता लिखने में तदनुकूल छन्द प्रयुक्त होने चाहिए।

कुछ-कुछ कवियों को एक ही प्रकार का छन्द सध जाता है, उसे ही वे अच्छा लिख सकते हैं। उनको दूसरे प्रकार का छन्द लिखने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए। यदि कविता सरस और मनोहारिणी है, तो चाहे वह एक ही अथवा बुरे से बुरे छन्द में क्यों न हो उससे आनन्द अवश्य ही मिलता है। तुलसीदास ने चौपाई और बिहारीलाल ने दोहा लिख कर ही इतनी कीर्ति सम्पादन की है। प्राचीन कवियों को भी किसी-किसी वृत्त से समधिक स्नेह था। वे अपने आदृत वृत्त ही को अधिक काम में लाते थे और उनमें उनकी कविता खुलती भी अधिक थी। भारवि का वंशस्थ, रत्नाकर की वसन्ततिलका, भवभूति और जगन्नाथराय की शिखरिणी, कालिदास की मन्दाक्रान्ता और राजशेखर का शार्दूलविक्रीड़ित इस विषय में प्रमाण हैं।

पादान्त में अनुप्रास-हीन छन्द भी हिन्दी में लिखे जाने चाहिए। इस प्रकार के छन्द जब संस्कृत, अंग्रेजी और बँगला में विद्यमान हैं, तब कोई कारण नहीं कि हमारी भाषा में वे न लिखे जायँ। संस्कृत ही हिन्दी की माता है। संस्कृत का सारा कविता-साहित्य इस तुकबन्दी बखेड़े से बहिर्गत-सा है। अतएव इस विषय में यदि हम संस्कृत का अनुकरण करें, तो सफलता की पूरी-पूरी आशा है। अनुप्रास युक्त पादान्त सुनते-सुनते हमारे कान उस प्रकार की पंक्तियों के पक्षपाती हो गये हैं। इसलिए अनुप्रास-हीन रचना अच्छी नहीं लगती। बिना तुकवाली कविता के लिखने अथवा सुनने का अभ्यास होते ही वह भी अच्छी लगने लगेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। अनुप्रास और यमक आदि शब्दाडम्बर कविता के आधार नहीं, जो उनके न होने से कविता निर्जीव हो जाय, या उससे कोई अपरिमेय हानि पहुँचे, कविता का अच्छा या बुरा होना विशेषतः अच्छे अर्थ और रस-बाहुल्य पर अवलम्बित है। परन्तु अनुप्रासों के ढूँढ़ने का प्रयास उठाने में समुचित शब्द न मिलने से अर्थांश की हानि हो जाया करती है, इससे कविता की चारुता नष्ट हो जाती है। अनुप्रासों का विचार न करने से कविता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखने में सुगमता भी होती है और मनोऽभिलषित अर्थ व्यक्त करने में विशेष कठिनाई भी नहीं पड़ती। अतएव पादान्त में अनुप्रास-हीन छन्द हिन्दी में लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता है। संस्कृत में प्रयोग किये गये शिखरिणी, वंशस्थ और वसन्ततिलका आदि वृत्त ऐसे हैं, जिनमें अनुप्रास का न होना काव्य-रसिकों को बहुत ही कम खटकेगा। पहले-पहल इन्हीं वृत्तों का प्रयोग होना चाहिये।

किसी भी प्रचलित परिपाटी का क्रम-भङ्ग होता देख प्राचीनता के पक्षपाती बिगड़ खड़े होते हैं और नई चाल के विषय में नाना प्रकार की कुचेष्टाएँ और दोषोद्भावनाएँ करने लगते हैं, यह स्वाभाविक बात है। परन्तु यदि इस प्रकार की टीकाओं से लोग डरते, तो संसार से नवीनता का लोप हो जाता। हमारा यह मतलब नहीं कि पादान्त में अनुप्रास वाले छन्द लिखे ही न जाया करें। हमारा कथन इतना ही है कि इस प्रकार के छन्दों के साथ अनुप्रासहीन छन्द भी लिखें जायँ, बस।

भाषा

कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ ले और अर्थ को हृदयङ्गम कर सके। पद्य पढ़ते ही उसका अर्थ बुद्धिस्थ हो जाने से विशेष आनन्द प्राप्त होता है और पढ़ने में जी लगता है। परन्तु जिस काव्य का भावार्थ कठिनता से समझ में आता है, उसके अवलोकन में जी नहीं लगता और बराबर अर्थ का विचार करते-करते उससे विरक्ति हो जाती है। जो कुछ लिखा जाता है, वह इसी अभिप्राय से लिखा जाता है कि लेखक का हृद्गत भाव दूसरे समझ जायँ। यदि इस उद्देश्य की ही सफलता न हुई, तो लिखना ही व्यर्थ हुआ। अतएव क्लिष्ट की अपेक्षा सरल लिखना ही सब प्रकार से वांछनीय है। कालिदास, भवभूति और तुलसीदास के काव्य सरलता के आकर हैं; परम विद्वान होकर भी उन्होंने सरलता ही को विशेष मान दिया है, इसलिए उनके काव्यों का इतना आदर है। जो काव्य सर्वसाधारण की समझ के बाहर होता है, वह बहुत कम लोकमान्य होता है। कवियों को इसका सदैव ध्यान रखना चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७) कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है अशुद्ध का उतना नहीं होता। व्याकरण का विचार न करना कवि की तद्विषयक अज्ञानता का सूचक है। कोई-कोई कवि व्याकरण के नियमों की ओर दृक्पात तक नहीं करते। यह बड़े खेद और लज्जा की बात है। व्रजभाषा की कविता में कविजन मनमानी निरंकुशता दिखलाते हैं। यह उचित नहीं। जहाँ तक सम्भव हो, शब्दों का मूल रूप न बिगड़ना चाहिए।

मुहाविरे का भी विचार रखना चाहिए। बेमुहाविरा-भाषा अच्छी नहीं लगती। "क्रोध क्षमा कीजिए" इत्यादि वाक्य कान को अतिशय पीड़ा पहुँचाते हैं। मुहाविरा भी भाषा का प्राण है; उसे जिसने नहीं जाना, उसने कुछ नहीं जाना। उसकी भाषा कदापि आदरणीय नहीं हो सकती।

विषय के अनुकूल शब्द-स्थापना करनी चाहिए। कविता एक अपूर्व रसायन है। उसके रस की सिद्धि के लिए बड़ी सावधानी, बड़ी मनोयोगिता और बड़ी चतुराई आवश्यक होती है। रसायन सिद्ध करने में आँच के न्यूनाधिक होने से जैसे रस बिगड़ जाता है, वैसे ही यथोचित शब्दों का उपयोग न करने से काव्यरूपी रस भी बिगड़ जाता है। किसी-किसी स्थल-विशेष पर रूक्षाक्षर वाले शब्द अच्छे लगते हैं, परन्तु और सर्वत्र ललित और मधुर शब्दों का ही प्रयोग करना उचित है। शब्द चुनने में अक्षर-मैत्री का विशेष विचार रखना चाहिये। अच्छे अर्थ का द्योतक न होकर भी कोई-कोई पद्य केवल अपनी मधुरता ही से पढ़नेवालों के अन्तःकरण को द्रवीभूत कर देता है।" टूटत उड़ु बैठे तरु जाई" इत्यादि वाक्य लिखना हिन्दी की कविता को कलङ्कित करना है।

शब्दों को यथा-स्थान रखना चाहिये। शब्द-स्थापना ठीक न होने से कविता की दुर्दशा होती है और अर्थांश में जो क्लिष्टता आ जाती है, उसके उदाहरण 'हिन्दी-कालिदास की समालोचना' में दिये जा चुके हैं।

गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिये। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य-समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य-पद्यात्मक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य होना चाहिए। गद्य का प्रचार हिन्दी में थोड़े दिनों से हुआ है। पहले गद्य प्रायः न था; हमारा साहित्य केवल पद्यमय था। गद्य-साहित्य की उत्पत्ति के पहले पद्य में व्रजभाषा ही का सार्वदेशिक प्रयोग होता था। अव कुछ अन्तर होने लगा है। पद्य की इस समय उन्नति हो रही है। अतएव अव यह सम्भव नहीं कि गद्य की भाषा का प्रभाव पद्य पर न पड़े। जो प्रवल होता है वह निर्वल को अवश्य अपने वशीभूत कर लेता है। यह बात भाषा के सम्बन्ध में भी तद्वत् पायी जाती है। पचास वर्ष पहले के कवियों की भाषा इस समय के कवियों की भाषा से मिलाकर देखिए। देखने से तत्काल विदित हो जायगा कि आधुनिक कवियों पर वोल-चाल की हिन्दी भाषा ने अपना प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया है; उनकी लिखी व्रजभाषा की कविता में वोल-चाल (खड़ी वोली) के जितने शव्द और मुहाविरे मिलेंगे उतने ५० वर्ष पहले कवियों की कविता में कदापि न मिलेंगे। यह निश्चित है कि किसी समय वोल-चाल की हिन्दी-भाषा, व्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी। इसलिये कवियों को चाहिए कि वे क्रम-क्रम से गद्य की भाषा में भी कविता करना आरम्भ करें—वोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है। जो लोग हिन्दी वोलते हैं और हिन्दी ही के गद्य-साहित्य की सेवा करते हैं. उनके पद में व्रज की भाषा का आधिपत्य वहुत दिनों तक नहीं रह सकता।

अर्थ

अर्थ-सौरस्य ही कविता का प्राण है। जिस पद्य में अर्थ का चमत्कार नहीं, वह कविता नहीं। कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए। ऐसा न होने से अर्थ-सौरस्य नहीं आ सकता। विलाप-वर्णन करने में कवि के मन में यह भावना होनी चाहिए कि वह स्वयं विलाप कर रहा है और वर्णित दुःख का स्वयं अनुभव कर रहा है। प्राकृतिक वर्णन लिखने के समय उसके अन्तःकरण में यह दृढ़ संस्कार होना चाहिए कि वर्ण्यमान नदी, पर्वत अथवा वन के सम्मुख वह स्वयं उपस्थित होकर उनकी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोभा देख रहा है । जब कवि की आत्मा का वर्ण्य विषयों से इस प्रकार निकट सम्बन्ध हो जाता है, तभी उसका किया हुआ वर्णन यथार्थ होता है और तभी उसकी कविता पढ़कर पढ़नेवालों के हृदय पर तद्वत् भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। कविता करने में, हमारी समझ में, अलङ्कारों को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए । विषय-वर्णन के झोंके में जो कुछ मुख से निकले उसे ही रहने देना चाहिए । बलात् किसी अर्थ के लाने की चेष्टा करने की अपेक्षा प्रकृत भाव से जो कुछ आ जाय उसे ही पद्य-बद्ध कर देना अधिक सरल और आह्लादकारक होता है। अपने मनोनीत अर्थ को इस प्रकार व्यक्त करना चाहिए कि पद्य पढ़ते ही पढ़नेवाले उसे तत्क्षण हृदयङ्गम कर सकें, क्लिष्ट कल्पना अथवा सोच-विचार करने की आवश्यकता न पड़े ।

बहुत-से शब्द ऐसे हैं जो सामान्य रीति से सब एक ही अर्थ के व्यञ्जक हैं, परन्तु विशेष ध्यानपूर्वक देखने अथवा धातु के अर्थ का विचार करने से पृथक्-पृथक् शब्दों में पृथक्-पृथक् शक्तियों का गर्भित रहना प्रकट होता है। 'तन्वी' शब्द का सामान्य अर्थ स्थल विशेष में स्त्री होता है। परन्तु 'तनु' शब्द का अर्थ कृश होने के कारण 'तन्वी' का विशेष अर्थ दुर्बल है। यदि कहें कि "यह 'तन्वी' अपने पति के साथ सुख से अपने घर में रहती है" तो यहाँ 'तन्वी' शब्द उस अर्थ का व्यञ्जक नहीं हो सकता जो अर्थ 'वामा' इत्यादि शब्दों का होता है। परन्तु यदि कहें कि "तन्वी अपने प्रियतम का वियोग बड़े धैर्य से सहन कर रही है" तो यहाँ 'तन्वी' शब्द की गर्भित शक्ति से वियोग उद्योत अर्थ को सहायता पहुँचती है। अतः ऐसे स्थल पर इस शब्द का प्रयोग बहुत प्रशस्त है। अर्थ-सौरस्य के लिए, जहाँ तक सम्भव हो, ऐसे ही शक्तिमान् शब्दों का प्रयोग करना चाहिए ।

घनाक्षरी और सवैया आदि लिखने वाले कुछ कवियों की कविता में कभी-कभी अनेक निरर्थक शब्द आ जाते हैं। कभी-कभी शब्दों के ऐसे विकृत रूप प्रयुक्त हो जाते हैं कि उनका अर्थ ही समझ में नहीं आता । कभी-कभी पादान्त में समान अक्षर लाने ही के लिए निरर्थक अथवा अपभ्रंश शब्द लाये जाते हैं। ब्रजभाषा की कविता, अथवा घनाक्षरी या सवैया के हम प्रतिकूल नहीं, परन्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा मत यह है कि अर्थ के सौरस्य ही की ओर कवियों का ध्यान अधिक होना चाहिए, शब्दों के आडम्बर की ओर नहीं। अर्थ-हीन अथवा अनुपयोगी शब्द न लिखे जाने चाहिए और न शब्दों के प्रकृत रूप को विगाड़ना चाहिए। शब्दों के बिगाड़ने से उनके बिगड़े हुए रूप पढ़नेवालों के कान को खटकते हैं और जिस अर्थ में वे प्रयुक्त होते हैं, उस अर्थ की वे कभी-कभी पोषकता भी नहीं करते।

अश्लीलता और ग्राम्यता-गर्भित अर्थों से कविता को कभी न दूषित करना चाहिए और न देश, काल तथा लोक आदि के विरुद्ध कोई बात कहनी चाहिए। कविता को सरस बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। नीरस पद्यों का कभी आदर नहीं होता। जिसे पढ़ते ही पढ़नेवाले के मुख से 'वाह' न निकले, अथवा उसका मस्तक न हिलने लगे, अथवा उसकी दन्त-पंक्ति न दिखलाई देने लगे, अथवा जिस रस की कविता है, उस रस के अनुकूल वह व्यापार न करने लगे, तो वह कविता, कविता ही नहीं, वह तुकबन्दी मात्र है। कविता के सरस होने ही से ये उपर्युक्त बातें हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। रस ही कविता का सबसे बड़ा गुण है। श्रीकण्ठ-चरित के कर्ता ने ठीक कहा है—

> तैस्तैरलंकृतिशतैरवतंसितोऽपि
> रूढ़ो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।
> नूनं विना घनरसप्रसराभिषेकं
> काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः॥

अर्थात् सैकड़ों अलङ्कारों से अलंकृत होकर भी, शब्द-शास्त्र के उच्चासन पर अधिरूढ़ होकर भी और सब प्रकार के सौष्ठव को धारण करके भी, रस-रूपी अभिषेक के बिना, कोई भी प्रबन्ध काव्याधिराज पदवी को नहीं पहुँचता।

विषय

कविता का विषय मनोरञ्जक और उपदेश-जनक होना चाहिए। यमुना के किनारे-किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत-अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु; भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य; बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल; अनन्त आकाश; अनन्त पृथ्वी; अनन्त पर्वत—सभी पर कविता हो सकती है; सभी से उपदेश सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है। फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़ कर कोई-कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता की चरम सीमा समझते हैं ? केवल अविचार और अन्धपरम्परा ! यदि 'मेघनाद-वध' अथवा 'यशवन्तराव महाकाव्य' वे लिख नहीं सकते, तो उनको ईश्वर की निःसीम सृष्टि में से छोटे-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को चुन कर उन्हीं पर छोटी-छोटी कविताएँ करनी चाहिए। अभ्यास करते-करते शायद कभी, किसी समय, वे इससे अधिक योग्यता दिखलाने में समर्थ हों और दण्डी कवि के कथनानुसार[1] शायद कभी वाग्देवी उन पर सचमुच ही प्रसन्न हो जायँ। नायिका के हाव-भावादि के वर्णन का अभ्यास करनेवालों पर भी सरस्वती की कृपा हो सकती है; परन्तु तदर्थ उसकी उपासना न करना ही अच्छा है।

संस्कृत में सहस्रशः उत्तमोत्तम काव्य विद्यमान हैं। अतः उस भाषा में काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, कुवलयानन्द, रसतरङ्गिणी आदि साहित्य के अनेक लक्षण-ग्रन्थों का होना अनुचित नहीं। परन्तु हिन्दी भाषा में सत्काव्य का प्रायः अभाव है। इस कारण अङ्कार और रस-विवेचन के झगड़ों से जटिल ग्रन्थों के बनने की हम कोई आवश्यकता नहीं देखते। 'हेला' हाव का लक्षण और उसका

---

१. न विद्यते पूर्व वासना गुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

—काव्यादर्श

अर्थात्—पूर्ववासना और अद्भुत प्रतिभा न होने पर भी शास्त्र के अनुशीलन और यत्न के अभिनिवेश द्वारा उपासना की गयी तो सरस्वती अनुग्रह अवश्य ही करती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्र देखने से क्या लाभ ? अथवा दीपकालङ्कार व उसके सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भेदों को जानने का क्या उपयोग ? हिन्दी में ऐसे कितने काव्य हैं जिनमें ये भेद पाये जाते हैं ? हमारी अल्प-बुद्धि के अनुसार रस-कुसुमाकर और जसवन्तजसो (!) भूषण के समान ग्रन्थों की इस समय आवश्यकता नहीं। इनके स्थान में यदि कोई कवि किसी आदर्श-पुरुष के चरित्र का अवलम्बन करके एक अच्छा काव्य लिखता तो उससे हिन्दी-साहित्य को अलभ्य लाभ होता। कनिष्ठा और ज्येष्ठा का भेद और उनके चित्र देखे तो क्या और न देखे तो क्या ? और उत्प्रेक्षा अलङ्कार का लक्षण नामानुसार सिद्ध हो गया तो क्या और न सिद्ध हुआ तो क्या ? नायिकाओं के भी झगड़ों में उलझने से हानि के अतिरिक्त लाभ की कोई सम्भावना नहीं। हिन्दी काव्य की हीन दशा को देखकर कवियों को चाहिए कि वे अपनी विद्या, अपनी बुद्धि और अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग इस प्रकार के ग्रन्थ लिखने में न करें। अच्छे काव्य लिखने का उन्हें प्रयत्न करना चाहिए। अलंकार, रस और नायिका-निरूपण वहुत हो चुका।

इस समय कवियों का एक दल कवि-समाजों और कवि-मण्डलों में वद्ध होकर समस्या-पूर्ति करने में व्यग्र हो रहा है। इन पूर्तिकारों में से कुछ को छोड़-कर शेष, कविता के नाम की भी बड़ी ही अवहेलना कर रहे हैं। इनको चाहिए कि विना योग्यता सम्पादन किये समस्यापूर्ति करने के झगड़े में न पड़ें। अच्छी समस्यापूर्ति करना असाधारण प्रतिभावान् का काम है। एक साधारण कवि अपने मनोऽनुकूल विषय पर एक ही घड़ी में चाहे ५० पद्य लिख डाले और वे सब चाहे अच्छे भी हों, परन्तु किसी समस्या के टुकड़े पर अच्छी कविता करने में वह शायद ही सफल-मनोरथ होगा। समस्यापूर्ति के लिए असामान्य कौशल और प्रवल प्रतिभा की आवश्यकता है। इस समय प्रतिभा का पूरा-पूरा विकास बहुत कम देखा जाता है, इसलिए समस्याओं की पूर्ति भी प्रायः अच्छी नहीं होती। हमारी यह सम्मति है कि समस्या-पूर्ति के विषय को छोड़कर अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विषयों को चुन कर, कवि को यदि बड़ी न हो सके, तो छोटी ही छोटी स्वतन्त्र कविता करनी चाहिए; क्योंकि इस प्रकार की कविताओं का हिन्दी में अभाव है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत और अंग्रेजी काव्यों का अनुवाद हिन्दी में करने की ओर भी कवियों की रुचि बढ़ने लगी है; परन्तु स्वतन्त्र कविता की अपेक्षा दूसरे की कविता का अनुवाद अन्यभाषा में करना बड़ा कठिन काम है। एक शीशी में भरे हुए इत्र को जब दूसरी शीशी में डालने लगते हैं तब डालने में ही पहले कठिनता उपस्थित होती है; और यदि बिना दो-चार बूंद इधर-उधर टपके वह शीशी में चला भी गया, तो इस उलट-फेर में उसके सुवास का विशेषाङ्ग अवश्य उड़ जाता है। एक भाषा की कविता का दूसरी भाषा में अनुवाद करना मूल कवि का अपमान करना है; क्योंकि अनुवाद के द्वारा उनके गुणों का ठीक-ठीक परिचय न होने के कारण पढ़नेवालों की दृष्टि में वह हीन हो जाता है। इसलिए किसी पुस्तक का अनुवाद आरम्भ करने के पहले अनुवादक को अपनी योग्यता का विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है। सच है कि जो अच्छा कवि है वही अच्छा अनुवाद करने में समर्थ हो सकता है; दूसरा नहीं। परतु अच्छा कवि होना भी दुर्लभ है। महाकवि मङ्खक ने ठीक कहा है—

तान्यर्थरत्नानि न सन्ति येषां सुवर्णसंघेन च ये न पूर्णाः।
ते रीतिमात्रेण दरिद्रकल्पा यान्तीश्वरत्वं हि कथं कवीनाम् ॥

अर्थात्—अर्थ-रत्न और स्वर्ण-समूह से जो परिपूर्ण नहीं हैं, वे महादरिद्री लोग केवल रीति-मात्रा का अवलम्बन करके कवीश्वर की पदवी कदापि नहीं पा सकते।

काव्य के गुणों और दोषों की विवेचना संस्कृत की जिन पुस्तकों में है, उनमें कवियों के कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य पर बहुत-कुछ कहा गया है। परन्तु उन सब बातों का विचार हम यहाँ पर नहीं कर सकते। केवल स्थूल-स्थूल बातों ही के विचार की इच्छा से हमने यह लेख आरम्भ किया था। अतएव, अब हम इसे यहीं समाप्त करते हैं।

[२]

संसार में ईश्वर या देवताओं का अवतार कई प्रकार का और कई कामों के लिए होता है। अलौकिक कार्य करने वाले प्रतिभाशाली मनुष्य ही अवतार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। स्वाभाविक कवि भी एक प्रकार के अवतार हैं। इस पर कदाचित् कोई प्रश्न करे कि अकेले कवि ही क्यों अवतार माने गये; और लेखक इस पर न बिठाये गये? तो यह कहा जा सकता है कि लेखक का समावेश कवि में है, पर कवियों में कुछ ऐसी विशेष शक्ति होती है, जिसके कारण उनका प्रभाव लोगों पर बहुत पड़ता है। अब मुख्य प्रश्न यह है कि कवि का अवतार होता ही क्यों है? पहुँचे हुए पण्डितों का कथन है कि कवि भी "धर्मसंस्थापनार्थाय" उत्पन्न होते हैं। उनका काम केवल तुक मिलाना या 'पावस-पचासा' लिखना ही नहीं है। तुलसीदास ने कवि होकर वैष्णव-धर्म की स्थापना की है; मत-मतान्तरों का भेद मिटाया है और "ज्ञान के पन्थ को कृपाण की धार" बताया है। प्रायः उसी प्रकार का काम, दूसरे रूप में सूरदास, कबीर और लल्लूलाल ने किया है। हरिश्चन्द्र ने शूरता, स्वदेश-भक्ति और सत्य, प्रेम का धर्म चलाया है। जिन कवियों ने केवल संस्कृत भाषा ही का भाण्डार भरा है वे भी, किसी न किसी रूप में, लोगों के उपदेशक थे। हिन्दी के जितने कवि प्रसिद्ध हैं उन्होंने देश, काल, अवस्था और पात्र के अनुसार ही कविता की है। दूसरे देशों और दूसरी भाषाओं के कवियों का नाम लेने की यहाँ आवश्यकता नहीं, क्योंकि हिन्दी के पूर्ववर्ती कवियों ने समय-समय पर अपने कर्त्तव्य को समझा है। और उसका पालन भी किया है। राजा शिवप्रसाद-सदृश इतिहासकारों ने भी अवतार का काम किया है, यद्यपि उनके विचारों को लोग मानते नहीं। सारांश यह कि कवियों को ऐसा करना पड़ता है—वे स्वभाव ही से ऐसा करते हैं—कि संसार का कल्याण हो और इस प्रकार उनका नाम आप ही आप अमर हो जाय। भूषण के समान कवियों ने तो राजनीतिक आन्दोलन तक उपस्थित कर दिया है। "पूर्ण" कवि ने हमें यह उपदेश दिया है कि जो लोग बोलचाल की भाषा से किसी प्रकार अप्रसन्न हैं वे भी अपनी पुरानी ब्रज (कविता) की बोली को विना तोड़े-मरोड़े काम में ला सकते हैं, और यदि वे चाहें तो बोलचाल की भाषा में कविता कर सकते हैं। सारांश यह है कि कविता ही के लिए कविता करना एक तमाशा है। हिन्दी में कविता-सम्बन्धी इस प्रकार के लेख पढ़कर बाहर के लोग यह अनुमान कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते हैं कि कदाचित् हिन्दी के कवि अपना कर्त्तव्य नहीं जानते, नहीं तो उनके लिए ऐसा लेख न लिखा जाता। यदि कोई मराठी या बँगला के समाचार-पत्र या मासिक-पत्र पढ़े, तो उसे उनमें ऐसे लेख न मिलेंगे। ऐसे लेख उन भाषाओं में कम से कम चालीस वर्ष पहले निकल चुके हैं। और उन लेखों के अनुसार उन भाषाओं की कविता इतने समय में इतनी ऊँची हो गई है कि समालोचकों के लिए जन्म भर विचार करने की सामग्री तैयार है। भाषा या साहित्य की जब जैसी अवस्था होती है, तब उसमें उसी प्रकार के लेख निकलते हैं। हम यहाँ पर इस विषय का एक उदाहरण देते हैं। एक बार 'छत्तीसगढ़-मित्र' में हिन्दी-व्याकरण के विषय में कुछ लेख निकले थे। उस पर एक महाराष्ट्र सज्जन ने बम्बई से (संपादक से) पूछा कि क्या हिन्दी में व्याकरण नहीं है ? इस पर सुनने में आया कि सम्पादक ने उनको यह उत्तर दिया कि और-और भाषाओं के समान हिन्दी में कोई व्याकरण है। परन्तु इस विषय का निरूपण विदेशियों ने किया है। हिन्दुस्तानी लोग न उसे खोज सके हैं और न खोज हो जाने पर भी उसकी ओर ध्यान देते हैं।

कवि की कल्पना-शक्ति तीव्र होती है। इस कल्पना-शक्ति के द्वारा वह कठिन बातों को ऐसे अनोखे ढङ्ग से सबके सामने रखता है कि वे सहज ही समझ में आ जाती हैं। इसी शक्ति से वह अनजाने हुए पदार्थों या दृश्यों का चित्र इतना मनोहर खींचता है कि पढ़ने या सुनने वाले एकाग्रचित्त हो जाते हैं और उस बात पर प्रेमपूर्वक विचार करते हैं। फिर कवि अपने अवलोकन और अपनी कल्पना से ऐसी शिक्षा देते हैं कि वह न तो आज्ञा का रूप धारण करती है, और न अपना स्वाभाविक रूखापन ही प्रकट करती है, किन्तु भीतर ही भीतर मन को उकसा देती है। ताजमहल का वर्णन करते समय वह इस बात पर ध्यान न देगा कि यह किस सन् में बना था, इसकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी है, या इसका पत्थर कहाँ से आया है ? इमारत को देखकर उसका मन कदाचित् उसके भीतर से भी ऊँचा बढ़ जायगा और वह उस समय की कल्पना करने लगेगा जब बादशाह की बेगम, मरते समय, रौजे की वसीयत कर रही थी। उसके मन में पुराने और नये समय के मिलान का भी चित्र खिंच जायगा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वह समय के फेर की घटनाओं को सोचने लगेगा। मनोहर वर्णन और शिक्षा के साथ-साथ कवि अपने शब्द और वाक्य भी ऐसे मनोहर बनाता है कि पढ़नेवाले के आनन्द की सीमा नहीं रहती। कविता लिखते समय जो-जो भाव कवि के हृदय में उदित होते हैं, वही भाव पढ़नेवाले के हृदय में उत्पन्न हो सकते हैं। इसके लिए पढ़नेवाला सहृदय होना चाहिए, नहीं तो भैंस के आगे बीन बजने लगेगी। यदि स्वतः कवि में सहृदयता न हो तो फिर उसका श्रम ही वृथा है। मनोविज्ञानी लोग कदाचित् किसी समय हमको यह बता सकेंगे कि मनोविकार प्रकट करने के लिए छन्द ही का उपयोग क्यों होता है? गद्य में भी कोई-कोई लेखक— विशेषकर उपन्यास-लेखक—ऐसा मनोहर वर्णन करते हैं और ऐसे भाव प्रकट करते हैं कि उनका गद्य पद्य हो जाता है। जो हो, अभी तो कवि लोग ही विशेषकर यह काम करते हैं और उसके लिए छन्द काम में लाते हैं।

आजकल हिन्दी संक्रान्ति की अवस्था में है। हिन्दी-कवि का कर्त्तव्य यह है कि वह लोगों की रुचि का विचार रखकर अपनी कविता ऐसी सहज और मनोहर रचे कि साधारण पढ़े-लिखे लोगों में भी पुरानी कविता के साथ-साथ नई कविता पढ़ने का अनुराग उत्पन्न हो जाय। पढ़नेवालों के मन में नई-नई उपमाओं को, नये-नये शब्दों को और नये-नये विचारों को समझने की योग्यता उत्पन्न करना कवि ही का कर्त्तव्य है। जब लोगों का झुकाव इस ओर होने लगे तब, समय-समय पर कल्पित अथवा सत्य आख्यानों के द्वारा सामाजिक, नैतिक और धार्मिक विषयों की मनोहर शिक्षा दे। जब जो विषय उसके अवलोकन में आवे, तब उसी पर अपनी स्वाभाविक शक्ति से कविता लिखकर लोगों को परोक्ष रूप से सचेत करे। कविता के प्रभाव का एक छोटा-सा उदाहरण सुनिए। पद्माकर कवि के घराने के लोगों में विवाह के समय कवित्त पढ़ने की चाल है। उनकी जाति के लोग कहते हैं कि यह चाल पद्माकर के समय से चली है और वह अब तक चली आती है। क्या यह बात आज-कल के कवियों में नहीं हो सकती? जान पड़ता है कि "अब के कवि खद्योत सम जहँ-तहँ करहिं प्रकाश"—जिसने यह दोहा लिखा है उसको बड़ी दूर की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूझी है। बोल-चाल की भाषा में आज तक कोई कविता ऐसी नहीं बनी, जिसका प्रचार "चन्द्रकान्ता"[1] के समान साधारण पढ़े-लिखे लोगों में भी हुआ हो। सदोष होने पर भी इस उपन्यास के कारण पुरुषों और स्त्रियों में उपन्यास पढ़ने की रुचि उत्पन्न हुई है। इसी प्रकार जब बोलचाल की भाषा की कविता को, या आजकल के और दूसरे पद्यों को साधारण लोग भी पढ़ने लगें; तब समझना चाहिए कि कविता और कवि लोकप्रिय हैं। आजकल तो संस्कृत-भरी कविता का रचा जाना और भी अधिक हानिकारक है।

सारांश यह कि यदि आजकल की कविता में शास्त्रोक्त गुणों को छोड़कर नीचे लिखे हुए गुण हों तो सम्भव है कि वह लोकप्रिय होगी—

(१) कविता में साधारण लोगों की अवस्था, विचार और मनोविकारों का वर्णन हो।

(२) उसमें धीरज, साहस, प्रेम और दया आदि गुणों के उदाहरण रहें।

(३) कल्पना सूक्ष्म और उपमादिक अलङ्कार गूढ़ न हों।

(४) भाषा सहज, स्वाभाविक और मनोहर हो।

(५) छन्द सीधा, परिचित, सुहावना और वर्णन के अनुकूल हो।

---

१. यह आसन अब 'भारती-भारती' और 'जयद्रथ-वध' को मिल गया है। १९१८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३ | लोभ और प्रीति

पं० रामचन्द्र शुक्ल

किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं। दूसरे की वस्तु का लोभ करके लोग उसे लेना चाहते हैं, अपनी वस्तु का लोभ करके लोग उसे देना या नष्ट होने देना नहीं चाहते। प्राप्य या प्राप्त सुख के अभाव या अभाव-कल्पना के बिना लोभ की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः इसके सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्ष हैं, जब लोभ अप्राप्त के लिये होता है तब तो दुःख स्पष्ट ही रहता है। प्राप्त के सम्बन्ध में दुःख का अंश निहित रहता है और अभाव के निश्चय या आशंका मात्र पर व्यक्त हो जाता है। कोई सुखद वस्तु पास में रखने पर भी मन में इच्छा का बीज रहता है कि उसका अभाव न हो। पर अभाव का जब तक ध्यान नहीं होता तब तक इस वासना का कहीं पता नहीं रहता। हम बैठे-बैठे किसी वस्तु का आनन्द ले रहे हैं और उस आनन्द के अभाव से जो दुःख होगा उसका कुछ भी ध्यान हमारे मन में नहीं है। इसी बीच में कोई आकर उस वस्तु को ले जाना चाहता है; तब हम उससे कुछ व्यग्र होकर कहते हैं 'अभी रहने दो।' इसके पहले कोरे आनन्द के अनुभव में इस इच्छा का कहीं पता न था कि वह वस्तु हटाई न जाय।

विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्त्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। जहाँ लोभ सामान्य या जाति के प्रति होता है वहाँ वह लोभ ही रहता है; पर जहाँ किसी जाति के एक ही विशेष व्यक्ति के प्रति होता है वहाँ वह 'रुचि' या 'प्रीति' का पद प्राप्त करता है। लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। कहीं कोई अच्छी चीज सुनकर दौड़ पड़ना लोभ है। किसी विशेष वस्तु पर इस प्रकार मुग्ध रहना कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उससे कितनी ही अच्छी-अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उस विशेष वस्तु से प्रवृत्ति न हटे, रुचि या प्रेम है। किसी स्त्री या पुरुष के रूप की प्रशंसा सुनते ही पहला भाव लोभ का होगा। किसी को हमने सुन्दर देखा और लुभा गए। जब तक प्रवृत्ति का यह व्यभिचार रहेगा, तब तक हम रूपलोभी ही माने जायँगे। जब हमारा लोभ किसी एक ही व्यक्ति पर स्थिर हो जायगा; हमारी वृत्ति एक-निष्ठ हो जायगी, तब हम प्रेमी कहे जाने के अधिकारी होंगे पर साधारणतः मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।

लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनन्द का अनुभव होना। अतः वह आनन्द-स्वरूप है। इसी से किसी अच्छी वस्तु को देखकर लुभा जाना कहा जाता है! पर केवल इस अवस्था में लोभ की पूरी अभिव्यक्ति नहीं होती। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगी, किसी वस्तु में हमें बहुत सुख या आनन्द मिला, इतने ही पर दुनिया में यह नहीं कहा जाता कि हमने लोभ किया। जब संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का संयोग होगा अर्थात् जब उस वस्तु को प्राप्त करने की, दूर न करने की, नष्ट न होने देने की, इच्छा प्रकट होगी तभी हमारा लोभ लोगों पर खुलेगा। इच्छा लोभ या प्रीति का ऐसा आवश्यक अंग है कि यदि किसी को कोई बहुत अच्छा या प्रिय लगता है तो लोग कहते हैं कि 'वह उसे चाहता है।'

भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है पर चौबे जी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि चौबे जी को मिष्ठान्न से अधिक रुचि है। यह अभिरुचि भी लोभ की चेष्टाएँ उत्पन्न करती है। इन्द्रियों के विषय भेद से अभिरुचि के विषय पर भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कमल का फूल और रमणी का सुन्दर मुख अच्छा लगता है, वीणा की तान और अपनी तारीफ अच्छी लगती है, जूही और केसर की गन्ध अच्छी लगती है, रबड़ी और मालपूआ अच्छा लगता है, मुलायम गद्दा अच्छा लगता है। ये सब वस्तुएँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो आपको आनन्द देती हैं इससे इनकी प्राप्ति की इच्छा तो बहुत सीधी-सादी और स्वाभाविक कही जा सकती है पर जिससे इन सब वस्तुओं की प्राप्ति सुलभ होती है, जिसमें चाहे आनन्द देने वाली स्वतः कोई बात न हो, पर उसकी प्राप्ति की इच्छा होती है, उसका लोभ होता है। रुपये के रूप, रस, गंध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते हैं उस वेग से भौंरे कमल और कौए मांस पर भी न टूटते होंगे। यहाँ तक कि 'लोभी' शब्द से साधारणतः रुपये-पैसे का लोभी, धन का लोभी समझा जाता है! एक धातुखंड के गर्भ में कितने प्रकार के सुख और आनन्द मनुष्य समझता है। पर यह समझ इतनी पुरानी पड़ गई है कि इसकी ओर हमारा ध्यान अब प्रायः नहीं रहता। धन-संचय करने में बहुतों का लक्ष्य धन ही रहता है, उससे प्राप्य सुख नहीं। वे बड़े से बड़े सुख के बदले में या कठिन से कठिन कष्ट के निवारण के लिये थोड़ा-सा भी धन अलग करना नहीं चाहते। उनके लिये साधन ही साध्य हो जाता है।

स्थितिभेद से प्रिय या अच्छी लगने वाली वस्तु के सम्बन्ध में इच्छा दो प्रकार की होती है—

(१) प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा।

(२) दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा भी दो प्रकार की हो सकती है—

(१) इतने संपर्क की इच्छा जितना और किसी का न हो।

(२) इतने संपर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हों।

इनमें से प्रथम प्रतिषेधात्मक होने के कारण प्रायः विरोधग्रस्त होती है इससे उस पर समाज का ध्यान अधिक रहता है। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगती है; लगा करे, दूसरों को इससे क्या? पर जब हम उस वस्तु की ओर हाथ बढ़ाएँगे या औरों को उसकी ओर हाथ बढ़ाने न देंगे तब बहुत से लोगों का ध्यान हमारे इस कृत्य पर जायगा जिनमें से कुछ हाथ थामने वाले और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुँह लटकाने वाले भी निकल सकते हैं। हमारे लोभ की शिकायत ऐसे ही लोग अधिक करते पाए जाएँगे। दूसरों के लोभ की निन्दा जैसी अच्छी लोभी कर सकते हैं वैसी और लोग नहीं। माँगने पर पानेवाले और न देने वाले दोनों इसमें प्रवृत्त होते हैं। एक कहता है 'वह बड़ा लोभी है; देता नहीं' दूसरा कहता है 'वह बड़ा लोभी है; वरावर माँगा करता है।' रहीम दोनों को लोभी, दोनों को बुरा कहते हैं :—

रहिमन वे नर मरि चुके, जो कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत 'नाहिं'॥

ऐसा उस समय होता है जब एक ही वस्तु के सम्बन्ध में एक ओर तो प्राप्त करने और दूसरी ओर दूर न करने की इच्छा विम्व-प्रतिविम्ब रूप से दो व्यक्तियों में होती है। इसके अतिरिक्त एक ही वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा यदि संयोग से दो प्राणियों के चित्त में हुई तो भी विरोध का पूरा विधान होता है। सारांश यह कि दोनों अवस्थाओं में लोभ का लक्ष्य एक होने पर लोभी एक दूसरे को वहुत व्याकुल करते हैं।

प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छा की सदोषता और निर्दोषता लोभ के विषय पर निर्भर रहती है। लोभ के विषय दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष। अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा; अच्छा घर तथा धन, जिससे ये सब वस्तुएँ सुलभ होती हैं; सवको भाता है, सब उसकी प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। ये लोभ के सामान्य विषय हुए, जिन पर प्रायः मनुष्य मात्र का लक्ष्य रहता है अतः इनके प्रति जो लोभ होता है उस पर वहुत लोगों का ध्यान जाता है। पर यदि किसी को गुलाब जामुन या विशेष वूटी की छींट बहुत अच्छी लगे और वह उसे प्राप्त करना या न देना चाहे, तो उसके इस लोभ पर वहुधा कम लोगों का ध्यान जायगा और जिनका ध्यान जायगा भी उन्हें वह खटकेगा नहीं। ऐसे लोभ को वे रुचि कहेंगे। सबको जिसकी हाय-हाय होती है, सव जिसको पाना या रखना चाहते हैं, वह वहुत से लोगों को एक मैदान में लाकर खड़ा किया करता है जहाँ एक दूसरे की गति-विधि का निरीक्षण और अवरोध कड़ी नजर और पूरी मुस्तैदी से होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि मनुष्य समाज में सबके लोभ के लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते तो लोभ को बुरा कहनेवाले कहीं न मिलते। यदि साथ रहने वाले दस आदमियों में से कोई गाय बहुत चाहता, कोई घोड़ा, कोई कपड़ा, कोई ईंट, कोई पत्थर, कोई सोना, कोई चाँदी, कोई ताँबा और इन वस्तुओं में से किसी को शेष सब वस्तुओं को प्राप्त कराने की कृत्रिम शक्ति न दी जाती तो एक के लोभ में दूसरे को कोई कष्ट न पहुँचता और दूसरी बात यह होती कि लोभ का एक बुरा लक्षण जो असंतोष है, उसकी भी एक सीमा हो जाती। कोई कितनी गाएँ रखता, कितने घोड़े बाँधता, कहाँ तक सोना-चाँदी, इकट्ठी करता। पर विनिमय की कठिनता दूर करने के लिए मनुष्यों ने कुछ धातुओं में सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने का कृत्रिम गुण आरोपित किया जिससे मनुष्य मात्र की सांसारिक इच्छा और प्रयत्न का लक्ष्य एक हो गया, सबकी टकटकी टके की ओर लग गई।

लक्ष्य की इस एकता से समाज में एक दूसरे की आँखों में खटकने वाले लोभ की वृद्धि हुई। जब एक ही को चाहने वाले बहुत-से हो गए तब एक की चाह को दूसरे कहाँ तक पसन्द करते ? लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए। धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थीं वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगीं।

सामान्य-विषयगत प्रतिषेधात्मक लोभ में भी लोकदृष्टि जितनी ही संकुचित होती है, उसके भीतर जितनी ही कम वस्तुएँ आती हैं, उतना ही उसका दोष कम होता है। अच्छे भोजन की सबको चाह होती है अतः उसे बहुत चाहने वाला लोभी कहला सकता है। पर अच्छे भोजनों में से यदि किसी को मिठाई की चाह अधिक रहे, तो उसका दोष कम और मिठाइयों में से यदि केवल गुलाब-जामुन की अधिक चाह रहे तो और भी कम क्या कुछ भी न समझा जायगा। इसी प्रकार जहाँ एक ही वस्तु बहुत प्रकार की रखी हुई है वहाँ यदि कोई एक किसी को बहुत पसन्द आ जाय और वह उसे लेना चाहे तो उसकी गिनती लोभियों में न होगी। विश्वामित्र को वसिष्ठ की गाय बहुत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पसन्द आई और वे उसके बदले में बहुत-सी गायें देने के लिए तैयार हो गए पर वसिष्ठ ने अपनी गाय नहीं दी। इसके लिये लड़-भिड़ कर भी न वसिष्ठ लोभी कहलाए, न विश्वामित्र। इसी प्रकार एक नवाब साहब को बाबू हरिश्चन्द्र का एक अलबम बहुत पसन्द आया था। ये लोभ के विशेष विषय के उदाहरण हैं। इनके प्रति जो लोभ होता है उसके अवसर इतने कम होते हैं कि उनके स्वभाव या अधिक अभ्यास का अनुमान नहीं किया जा सकता। पर किसी की अच्छी चीज देखते ही जिनके मुँह में पानी आ जाता है, वे बराबर खरी-खोटी सुना करते हैं। एक लोभ से दूसरे लोभ का निवारण भी होता है जिससे लोभी में अन्य वस्तुओं के त्याग का साहस आता है। विशेष विषयगत लोभ यदि बहुत प्रबल और सच्चा हुआ तो लोभी के त्याग का विस्तार बहुत बड़ा होता है। लोभ तो उसे एक विशेष और निर्दिष्ट वस्तु से है अतः उसके अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं का त्याग वह उसके लिये कर सकता है। विश्वामित्र एक गाय के लिये अपना सारा राजपाट देने को तैयार हो गए थे। अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।

यहाँ तक तो प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छावाले लोभ की बात हुई जिसका प्रायः विरोध होता है। अब प्राप्ति की उस इच्छा का विचार करता हूँ जिसे एक ही वस्तु के सम्बन्ध में बहुत से लोग बिना किसी विरोध के रख सकते हैं। जिस लोभ से दूसरे को कोई बाधा या कष्ट पहुँचता है उसी को पहले एक—प्रायः जिसे बाधा या कष्ट होता है—बुरा कहता है। फिर दूसरा, फिर तीसरा, इसी प्रकार बहुत-से बुरा कहने वाले हो जाते हैं। सारांश यह कि जो लोभ दूसरे की सुख-शान्ति या स्वच्छन्दता का बाधक होता है, अधिकतर वही निन्द्य समझा जाता है। उपवन की शोभा सबको लुभाती है। यदि हम किसी के बगीचे में जाकर टहला करें तो उसका क्या जाता है। यदि हम किसी वस्तु पर लुभाकर उससे उतना ही सम्पर्क रखना चाहते हैं जितना सब लोग एक साथ रख सकते हैं, तो हमारा लोभ किसी की आँखों में नहीं खटक सकता। बगीचे को आँख से एक साथ बहुत लोग देख सकते हैं, पर उसमें के फल नहीं खा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते। जहाँ देखने का भी दाम लगता है या कुछ आदमियों का देखना बिना बन्द किये देखा नहीं जा सकता, वहाँ दृष्टि-सम्पर्क की इच्छा भी मुश्किल में डाल देती है। पर जहाँ एक की इच्छा दूसरे की इच्छा की बाधक न होकर साधक होती है वहाँ एक ही वस्तु का लोभ रखने वाले बहुत से लोग बड़े सद्भाव के साथ रहते हैं। लुटेरे या डाकू इसी प्रकार दलबद्ध होकर काम करते हैं।

किसी को कोई स्थान बहुत प्रिय हो जाता है और वह हानि और कष्ट उठा कर भी वहाँ से नहीं जाना चाहता। हम कह सकते हैं कि उसे उस स्थान का पूरा लोभ है। जन्मभूमि का प्रेम, स्वदेश-प्रेम यदि वास्तव में अन्तःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है! इस लोभ के लक्षणों से शून्य देश-प्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिये गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबमें प्रेम होगा; सबको वह चाहभरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है। जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय सौरभ-पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि 'भाइयो! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े, या खड़े-खड़े, तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो? प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करने वाले नहीं। हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र हो सकता है। हितचिंतक और हित-साधन की प्रवृत्ति इस ज्ञान से भिन्न है, वह मन के वेग पर निर्भर है, उसका संबंध लोभ या प्रेम से है जिसके बिना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक त्याग का उत्साह हो ही नहीं सकता। जिस ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा—

> नैनन सौं रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
> केतिक ये कलधौत के धाम करील के कुञ्जन ऊपर वारौं॥

रसखान तो किसी की "लकुटी अरु कामरिया" पर तीनों पुरों का राज-सिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझ कर, या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियो! तुम जरा-सा दुवले हो जाते—अपने अँदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।

अब पूछिए कि जिनमें यह देश-प्रेम नहीं है उनमें यह किसी प्रकार हो भी सकता है? हाँ, हो सकता है— परिचय से, सान्निध्य से। जिस प्रकार लोभ से सान्निध्य की इच्छा उत्पन्न होती है उसी प्रकार सान्निध्य से भी लोभ या प्रेम की प्रतिष्ठा होती है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें हम बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें हम बराबर सुनते रहते हैं जिनका हमारा हर घड़ी का साथ हो जाता है, सारांश यह कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। जिस स्थान पर कोई बहुत दिनों तक रह आता है उसे छोड़ते हुए उसे दुःख होता है। पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उनसे परच जाते हैं। यह 'परचना' परिचय से निकला है। परिचय प्रेम का प्रवर्त्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिये हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँख खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसो, देखो तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो-दो बातें करो, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीचे घड़ी-आध-घड़ी बैठ जाओ और समझो कि ये सब हमारे हैं। इस प्रकार जब देश का रूप तुम्हारी आँखों में समा जायगा, तुम उसके अंग-प्रत्यंग से परिचित हो जाओगे, तब तुम्हारे अन्तःकरण में इस इच्छा का उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे, वह सदा हरा-भरा और फला-फूला रहे, उसके धन-धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें। यह तो वर्तमान प्रेम-सूत्र हुआ। अतीत की ओर भी दृष्टि फैलाओ। राम, कृष्ण, भीष्म, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भवभूति इत्यादि का स्मरण करो, जिससे ये सब नाम तुम्हारे हो जायँ। इनके नाते यह भूमि और इस भूमि के निवासी तुम्हें प्रिय होंगे।

आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि प्रवृत्ति भेद से प्रिय वस्तु के सम्बन्ध में इच्छा दो प्रकार की होती है— प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा तथा दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा का विचार तो हो चुका। अब रक्षा की इच्छा का अन्वेषण करना है। रक्षा की इच्छा भी दो प्रकार की होती है—

(१) स्वायत्त रक्षा की इच्छा अर्थात् अपने अधिकार में रखने की इच्छा।
(२) स्व-निरपेक्ष रक्षा की इच्छा अर्थात् केवल बने रहने देने की इच्छा।

स्वायत्त रखने की इच्छा प्रायः अन्य उपयोग या उपभोग की वासना से सम्बद्ध रहती है इससे वह कभी-कभी लोगों को खटकती है और लोग उसका विरोध करते हैं। कोई बहुत मीठे आम का पेड़ है जिसका फल सब लोग खाते हैं और जिसकी रखवाली सब लोग करते हैं। यदि उनमें से कोई एक अकेले उसकी रखवाली करने चले और किसी को पास न आने दे तो सब लोग मिल-कर विरोध करेंगे। पर कभी-कभी स्वायत्त रखने की इच्छा अन्य द्वारा यथेष्ट रक्षा के उस अविश्वास के कारण होती है जो लोभ या प्रीति की अधिकता से उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में यदि संरक्ष्य वस्तु के उपयोग या उपभोग आदि में औरों को कोई बाधा नहीं पहुँचती है तो किसी एक का उसे अपनी रक्षा में रखना दूसरे को बुरा नहीं लगता।

यदि लोभ की वस्तु ऐसी है जिससे सबको सुख और आनन्द है तो उस पर जितना ही अधिक ध्यान रहेगा रक्षा के भाव की एकता के कारण परस्पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेल की उतनी ही प्रवृत्ति होगी। यदि दस आदमियों में से सबकी यही इच्छा है कि कोई मन्दिर बना रहे गिरने-पड़ने न पाए अथवा और अधिक उन्नत और सुसज्जित हो, तो यह सम्मिलित इच्छा ऐक्यसूत्र होगी। मिलकर कोई कार्य करने से उसका साधन अधिक या सुगम होता है, यह बतलाना 'पर-उपदेश कुशल' नीतिज्ञों का काम है, मेरे विचार का विषय नहीं। मेरा उद्देश्य तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की छानबीन है जो निश्चयात्मिका वृत्ति से भिन्न है मुझे तो यह कहना है कि इन-इन अवस्थाओं में मेल की प्रवृत्ति होती है। अब मेल से क्या-क्या लाभ होते हैं यह तो न जाने कितने झगड़ालू बताते हैं और न जाने कितने लोग सुनकर झगड़ा करते हैं।

लोभ का सबसे प्रशस्त रूप वह है जो रक्षा मात्र की इच्छा का प्रवर्त्तक होता है, जो मन में यही वासना उत्पन्न करता है कि कोई वस्तु बनी रहे, चाहे वह हमारे किसी उपयोग में आए या न आए। इस लोभ में दोष का लेश उसी अवस्था में आ सकता है जब कि वह वस्तु ऐसी हो जिससे किसी को कोई बाधा या हानि पहुँचती हो। कोई सुन्दर कृष्णसार मृग नित्य आकर खेती की हानि किया करता है। उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसकी रक्षा चाहने वाला यदि बराबर उसकी रक्षा में प्रवृत्त रहेगा तो बहुतों से उसकी अनबन हो सकती है। वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक दूसरे का लोभी बनाए रहती है वह भी परम पूज्य है। घर का प्रेम, पुर या ग्राम का प्रेम, देश का प्रेम इसी पवित्र लोभ के क्रमशः विस्तृत रूप हैं, मनुष्य के प्रयत्नों की पहुँच बहुत परिमित होती है। अतः जो प्रेम क्षेत्र जितना ही निकटस्थ होगा उसमें उतने ही अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होगी और जो जितना ही दूर होगा प्रयत्नों का उतना ही कम अंश उसके लिए आवश्यक होगा। सबसे अधिक घर की रक्षा का; फिर पुर या ग्राम की ओर, फिर देश की रक्षा का ध्यान जन साधारण के लिये स्वाभाविक है। पर जिनकी दृष्टि बहुत व्यापक होती है जिनके अन्तःकरण में परार्थ को छोड़ स्वार्थ के लिए अलग जगह नहीं होती, वे इस क्रम का विपर्यय कर दिखाते हैं। वे देश की रक्षा के लिए अवसर पड़ने पर घर का लोभ क्या प्राण तक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का लोभ छोड़ देते हैं। पर ऐसे लोग बिरले होते हैं। सबसे ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

अब घर का प्रेम, पुर का प्रेम, देश का प्रेम, कहाँ तक विरोधशून्य होता है; वह भी देखिये। इनका अविरोध परिमित होता है। घर के भीतर, पुर या ग्राम के भीतर ही उसके होने का निश्चय रहता है। घर के वाहर, पुर या ग्राम के वाहर देश के वाहर विरोध करने वाले मिल सकते हैं। एक घर की दूसरे घरवालों से, एक पुर की रक्षा दूसरे पुर वालों से, और एक देश की रक्षा दूसरे देश वालों से करनी पड़ती है।

जिनकी आत्मा समस्त भेद-भाव भेदकर अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँची हुई होती है वे सारे संसार की रक्षा चाहते हैं—जिस स्थिति में भूमण्डल के समस्त प्राणी, कीटपतंग से लेकर मनुष्य तक, सुखपूर्वक रह सकते हैं, उसके अभिलाषी होते हैं। ऐसे लोग विरोध के परे हैं। उनसे जो विरोध रखें वे संसार के विरोधी हैं; वे लोक के कंटक हैं।

कोई वस्तु हमें बराबर सुख या आनन्द देती रहे और कोई वस्तु वनी रहे, इन्हीं दो भावों को लेकर स्वायत्त-रक्षा की इच्छा और स्वनिरपेक्ष रक्षा की इच्छा ये दो विभाग पहले किए गए हैं। अतः पहली को यदि हम अपने सुख की रक्षा की इच्छा कहें तो बहुत अनुचित न होगा। वस्तु के दूसरे के पास जाने से या नष्ट हो जाने से हमें सुख या आनन्द न मिल सकेगा, इसी से हम उसकी रक्षा के लिए व्यग्र होते हैं। यदि ऐसी वस्तु को कोई उठाए लिये जाता हो और वह बीच में नष्ट हो जाय, तो हमें दुःख न होगा क्योंकि जब चीज हमारे हाथ से निकल गई, हमें वह सुख या आनन्द दे ही नहीं सकती तब वह चाहे रहे, चाहे नष्ट हो। यहाँ तक कि यदि ले जानेवाले के प्रति हमें क्रोध होगा या ईर्ष्या होगी तो हम प्रसन्न होंगे। जहाँ वस्तु रक्षा की इच्छा होगी वहाँ यह बात न होगी। हम किसी दशा में उस वस्तु का नाश न चाहेंगे। किसी पुराने काजी के पास दो स्त्रियाँ एक बच्चे को लेकर लड़ती हुई आईं। एक कहती थी बच्चा मेरा है, दूसरी कहती थी मेरा। काजी साहब ने परीक्षा के विचार से कहा—"अच्छा, तुम दोनों को बच्चा काटकर आधा-आधा बाँट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया जायगा।" इतना सुनते ही दोनों में से एक घबराकर बोल उठी—"जाने दीजिए, बच्चा मुझे न चाहिए, उसी को दे दीजिए।" काजी साहब समझ गए कि बच्चा इसी का है। वह स्त्री बच्चे की माँ थी, अतः उसे उसका सच्चा लोभ था।

अब तक लोभ से सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया वह उसका व्यापक अर्थ लेकर। पर जैसा पहले कहा जा चुका है, 'लोभ' शब्द कहने से आजकल प्रायः धन के लोभ की भावना होती है, प्राप्ति या रक्षा की उस इच्छा की ओर ध्यान जाता है जो जीवन निर्वाह की सामग्रियों के प्रति होती है। धन से अनेक सुखों की प्राप्ति और अनेक कष्टों का निवारण होता है अथवा यों कहिये कि धर्म के बिना संसार में रहना संभव नहीं। संसार में जो इतने लोग धन इकट्ठा करते दिखाई देते हैं उनमें से कुछ तो घोर कष्ट के निवारण के लिए कुछ अधिक सुख की प्राप्ति के लिए, कुछ भविष्य में सुख के अभाव या कष्ट की आशंका से और कुछ बिना किसी उद्देश्य-भावना के। इनमें प्रथम श्रेणी के लोग तो धन की चाहे जितनी प्रबल इच्छा करें, उसके लिए चाहे जितने आतुर हों, लोभी नहीं कहला सकते। धन के बिना जिन्हें पेट भर अन्न नहीं मिलता, जो शीत और ताप से अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकते, उन्हें जो लोभी कहें वे बड़े भारी लोभी और बड़े भारी क्रूर हैं। दूसरी श्रेणी के लोगों पर से लोभ के आरोप की सम्भावना क्रमशः बढ़ते चौथी श्रेणी के लोगों पर जाकर निश्चय-कोटि को पहुँच जाती है। कष्ट-निवारण की इच्छा, अधिक सुख प्राप्ति की इच्छा, सुखाभाव या कष्ट की आशंका—वे तीनों धन और उसकी प्रीति की इच्छा के बीच ओट या व्यवधान के रूप में रहती हैं जहाँ इन तीनों में से कोई परदा नहीं रहता वहाँ शुद्ध धनलोभी की जघन्य मूर्ति साक्षात् दिखाई पड़ती है।

धन की कितनी इच्छा लोभ के लक्षणों तक पहुँचती है, उसका निर्णय कठिन है। पर किसी मनोविकार की उचित सीमा का अतिक्रमण प्रायः वहाँ समझा जाता है जहाँ और मनोवृत्तियाँ दब जाती हैं या उनके लिए बहुत कम स्थान रह जाता

३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। और मनोवेगों के आधिक्य से लोभ के आधिक्य में विशेषता यह होती है कि लोभ स्वविषयान्वेषी होने के कारण अपनी स्थिति और वृद्धि का आधार आप खड़ा करता रहता है, जिससे असन्तोष की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ और वृत्तियों के लिए स्थायी अनवकाश हो जाता है और मनोविकारों में यह बात नहीं होती। क्रोध को ही लीजिए। क्रोध कुछ बातों पर आता है पर उन बातों को ढूंढने में प्रवृत्त नहीं होता। क्रोधी स्वभाव का मनुष्य ऐसी बातों पर भी चिढ़ जाता है जिससे और लोग नहीं चिढ़ते पर वह सदा इस फेर में नहीं घूमा करता कि कोई बात चिढ़ने को मिले। क्रोध से आगबबूला होने वाले तुरन्त करुणा से आर्द्र और लज्जा से पानी-पानी होते हुए भी देखे जाते हैं। क्रोध आदि में अन्य वृत्तियों का जो बोध होता है वह प्रायः क्षणिक होता है, पर लोभ द्वारा स्थायी हो जाता है। बात यह है कि लोभ का प्रथम अवयव सुखात्मक होने के कारण लोभी को विषय की ओर बराबर प्रवृत्त रखता है। धन का लोभी धन पाकर लोभ से निवृत्त नहीं हो जाता, या तो भले-बुरे का सब विचार छोड़ उसकी रक्षा में तत्पर दिखाई देता है या और अधिक प्राप्ति में। इस प्रकार लोभ से अन्यमुख वृत्तियों का जो स्तंभन होता है वह स्वभावांतर्गत हो जाता है। परन्तु स्थूल रूप से उद्धत लोभ के दो उग्र लक्षण कहे जा सकते हैं—

(१) असंतोष

(२) अन्य वृत्तियों का दमन।

धन का जो लोभ मानसिक व्याधि या व्यसन के रूप में होता है उसका प्रभाव अंतःकरण की शेष वृत्तियों पर यह होता है कि वे अनभ्यास में कुंठित हो जाती हैं। जो लोभ मान-अपमान के भाव को, करुणा और दया के भाव को, न्याय-अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्ट-निवारण या सुख भोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्यता कहाँ तक रहने देगा? जो अनाथ विधवा का सर्वस्व-हरण करने के लिए कुर्क अमीन लेकर चढ़ाई करते हैं, जो अभिमानी धनिकों की दुतकार सुनकर त्योरी पर बल नहीं आने देते, जो मिट्टी में रुपया गाड़कर न आप खाते हैं न दूसरे को खाने देते हैं, जो अपने परिजनों का कष्टक्रन्दन सुनकर भी रुपये गिनने में लगे रहते हैं। वे अधमरे होकर जीते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। उनका आधा अन्तःकरण मारा गया समझिए। जो किसी के लिए नहीं जीते, उनका जीना न जीना बराबर है।

लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में समान भाव रखते हैं। अब और चाहिए क्या? जिससे वे कुछ पाने की आशा रखते हैं वह यदि उन्हें दस गालियाँ भी देता है तो उनकी आकृति पर न रोष का कोई चिह्न प्रकट होता है और न मन में ग्लानि होती है। न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया। सुन्दर से सुन्दर रूप देख कर वे अपनी एक कौड़ी भी नहीं भूलते। करुण से करुण स्वर सुनकर वे अपना एक पैसा भी किसी के यहाँ नहीं छोड़ते। तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ फैलाने में वे लज्जित नहीं होते। क्रोध, दया, घृणा, लज्जा आदि करने से क्या मिलता है कि वे करने जायँ? जिस बात से उन्हें कुछ मिलता नहीं, जबकि उसके लिए उनके मन के किसी कोने में जगह नहीं होती तब जिस बात से पास का कुछ जाता है, वह बात उन्हें कैसी लगती होगी, यह यों ही समझा जा सकता है। जिस बात में कुछ लगे वह उनके किसी काम की नहीं—चाहे वह कष्ट-निवारण हो या सुख-प्राप्ति, धर्म हो या न्याय। वे शरीर सुखाते हैं, अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र आदि की आकांक्षा नहीं करते, लोभ के अंकुश से अपनी संपूर्ण इन्द्रियों को वश में रखते हैं। लोभियो? तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रियनिग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप, अविवेक, तुम्हारा अन्याय, विगर्हणीय है। तुम धन्य हो। तुम्हें धिक्कार है!!

पक्के लोभी लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं होते, कच्चे हो जाते हैं। किसी वस्तु को लेने के लिए कई आदमी खींचतान कर रहे हैं। उनमें से एक क्रोध में आकर उस वस्तु को नष्ट कर देता है। उसे पक्का लोभी नहीं कह सकते, क्योंकि क्रोध ने उसके लोभ को दबा दिया, वह लक्ष्य-भ्रष्ट हो गया।

अब एक प्राणी के प्रति दूसरे प्राणी के लोभ का प्रसंग सामने आता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। यद्यपि किसी व्यक्ति की ओर प्रवृत्ति भी जब तक एक-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निष्ठ न हों, लोभ ही कही जा सकती है, पर साधारण बोल-चाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है, उसे 'लोभ' और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है, उसे 'प्रेम कहते हैं। वस्तु और व्यक्ति के विषयभेद से लोभ के स्वरूप और प्रवृत्ति में बहुत कुछ भेद पड़ जाता है, इससे व्यक्ति के लोभ का अलग नाम दिया गया है। पर मूल में लोभ और प्रेम दोनों एक ही हैं, इसका पता हमारी भाषा ही देती है। किसी रूपवान या रूपवती को देख उस पर "लुभा जाना" बराबर कहा जाता है। अँगरेजी के प्रेम-वाचक शब्द 'लव' (Love), सैक्सन के 'लुफु' (Lufu) और लैटिन के 'लबेट्' (Lubet) का सम्बन्ध संस्कृत के 'लोभ' शब्द या 'लुभ्' धातु से स्पष्ट लक्षित होता है।

किसी व्यक्ति का लोभ वस्तु के लोभ से कितना विलक्षण होता है, अब यह देखना चाहिए। विलक्षणता का सबसे बड़ा कारण है दोनों पक्षों में मनस्तत्त्व का विधान। जो लुब्ध होता है उसके भी हृदय होता है, जिस पर वह लुब्ध होता है उसके भी। अतः किसी व्यक्ति का लोभी उस व्यक्ति से केवल बाह्य संपर्क रखकर ही तुष्ट नहीं हो सकता, उसके हृदय का संपर्क भी चाहता है। अतः मनुष्य का मनुष्य के साथ जितना गूढ़, जटिल और व्यापक सम्बन्ध हो सकता है उतना वस्तु के साथ नहीं। वस्तु-लोभ के आश्रय और आलंबन, इन दो पक्षों में भिन्न-भिन्न कोटि की सत्ताएँ रहती हैं। पर प्रेम एक ही कोटि की दो सत्ताओं का योग है, इससे कहीं अधिक गूढ़ और पूर्ण होता है।

वस्तु के भीतर लोभी चेतना का कोई विधान नहीं देखता जिस पर प्रभाव डालने का वह प्रयत्न करे। पर प्रेमी प्रिय की अन्तर्वृत्ति पर प्रभाव डालने में तत्पर रहा करता है। प्रभाव डालने की यह वासना प्रेम उत्पन्न होने के साथ ही जगती है और बढ़ती चली जाती है। किसी वस्तु पर लुब्ध होकर कोई इस चिंता में नहीं पड़ता कि उस वस्तु को मालूम हो जाय कि वह उस पर लुब्ध है। पर किसी पर लुब्ध या प्रेमासक्त होते ही प्रेमी इस बात के लिए आतुर होने लगता है कि प्रिय को उसके प्रेम की सूचना मिल जाय।

इस प्रवृत्ति के मूल में कई बातें दिखाई पड़ती हैं। पहली बात तो तुष्टि का विधान है।' लोभी या प्रेमी सान्निध्य या संपर्क द्वारा तुष्ट होना चाहता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तु के सान्निध्य या संपर्क के लिए तो वस्तु की ओर से किसी प्रकार की स्वीकृति या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। पर किसी चेतन प्राणी से प्रेम करके कोई उसके सान्निध्य या संपर्क की आशा तब तक नहीं कर सकता जब तक कि वह उसमें भी सान्निध्य या संपर्क की इच्छा न उत्पन्न कर ले। दूसरी बात यह है कि प्रेम का पूर्ण विकास तभी होता है जब दो हृदय एक दूसरे की ओर क्रमशः खिंचते हुए मिल जाते हैं। इस अंतर्योग के बिना प्रेम की सफलता नहीं मानी जा सकती। अतः प्रिय को अपने प्रेम की सूचना देना उसके मन को अपने मन से मिलने के लिए न्योता देना है।

अपने प्रेम की सूचना देने के उपरान्त प्रेमी प्रिय के हृदय में अपनी ओर कुछ भावों की प्रतिष्ठा चाहता है। पहले कहा जा चुका है कि सहसा उत्पन्न लोभ या प्रीति का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है "अच्छा लगना"। वस्तु के संबन्ध में तो उसी वस्तु का अच्छा लगना काफी होता है। लोभियों को इस फेर में नहीं पड़ना पड़ता कि जो वस्तु उन्हें अच्छी लग रही है उसे वे भी अच्छे लगें। पर प्रेमी यह चाहने लगता है कि जिस प्रकार प्रिय मुझे अच्छा लगता है उसी प्रकार मैं भी प्रिय को अच्छा लगूं। वह अपना सारा अच्छापन किसी न किसी बहाने उसके सामने रखना चाहता है।

एक दूसरे की ओर आकर्षित दो हृदयों के योग से जीवन में एक नया रस उत्पन्न हो जाता है या दूनी सजीवता आ जाती है। आनन्द की संभावना भी बहुत अधिक बढ़ जाती है और दुःख की भी। प्रिय के हृदय का आनन्द प्रेमी के हृदय का आनन्द हो जाता है। अतः एक ओर तो प्रिय के आनन्द का मेल हो जाने से प्रेमी संसार की नाना वस्तुओं में कई गुने अधिक आनन्द का अनुभव करने लगता है; दूसरी ओर प्रिय के अभाव में उन्हीं वस्तुओं में उसके लिए आनन्द बहुत कम या कुछ भी नहीं रह जाता है। वियोग की दशा में तो वे वस्तुएँ उलटा दुःख देने लगती हैं। होते-होते यहाँ तक होता है कि प्रेमी के लिए प्रिय के आनन्द से अलग आनन्द रह ही नहीं जाता। प्रिय के आनन्द में ही वह अपना आनन्द ढूंढा करता है। दो हृदयों की यह अभिन्नता अखिल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन की एकता के अनुभव पथ का द्वार है। प्रेम का यह एक महत्त्वपूर्ण रहस्य है।

प्रेम का प्रभाव एकांत भी होता है और लोक जीवन के नाना क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ता है। एकांत प्रभाव उस अंतर्मुख प्रेम में देखा जाता है जो प्रेमी को लोक के कार्यक्षेत्र से खींचकर केवल दो प्राणियों के एक छोटे से संसार में बंद कर देता है। उसका उठना-बैठना, चलना-फिरना, मरना-जीना सब उसी घेरे के भीतर होता है। वह उस घेरे के बाहर कोई प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से कुछ भी नहीं करता। उसमें जो साहस, धीरता, दृढ़ता, कपट-सहिष्णुता आदि दिखाई देती है वह प्रेम मार्ग के बीच प्रेमोन्माद के रूप में लोक के बीच कर्त्तव्य के रूप में नहीं। सारांश यह कि इस प्रकार के प्रेम का क्षेत्र सामाजिक और पारिवारिक जीवन से विच्छिन्न होता है। उसमें प्रियपक्ष का प्रबल राग जीवन के अन्य सब पक्षों से पूर्ण विराग की प्रतिष्ठा कर देता है। फारसी के साहित्य में ऐसे ही ऐकान्तिक और लोकबाह्य प्रेम की प्रधानता है। भारतीय साहित्य में गोपियों के प्रेम को प्रायः यही स्वरूप दिया गया है क्योंकि यह एक ऐसा राग है जिसके प्रभाव से विराग की साधना आप से आप, बिना किसी मानसिक प्रयत्न के हो जाती है।

प्रेम का दूसरा स्वरूप वह है जो अपना मधुर और अनुरंजनकारी प्रकाश जीवन-यात्रा के नाना पथों पर फेंकता है। प्रेमी जगत् के बीच अपने अस्तित्व की रमणीयता का अनुभव आप भी करता है और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है। प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसे अपने आसपास चारों ओर सौंदर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म-सौंदर्य प्रदर्शित करता है। वह प्रिय को अपने समग्र जीवन का सौंदर्य-जगत् के बीच दिखाना चाहता है। यह प्रवृत्ति इस बात का पूरा संकेत करती है कि मनुष्य की अंतःप्रकृति में जाकर प्रेम का जो विकास हुआ है वह सृष्टि के बीच सौंदर्य-विधान की प्रेरणा करने वाली एक दिव्य शक्ति के रूप में। मनुष्य का प्रेम-सौंदर्य—वस्तु-सौंदर्य, वाक्-सौंदर्य, भाव-सौंदर्य सब देखना और दिखाना चाहता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय-प्रबंध-काव्यों की मूल प्रवृत्ति लोक-जीवन से संश्लिष्ट प्रेम के दर्शन की ओर ही रही। आदिकवि वाल्मीकि ने राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलों और बगीचों में न दिखाकर दंडकारण्य के विस्तृत कर्मक्षेत्र के बीच दिखाया है। उनका प्रेम जीवन-यात्रा के मार्ग में माधुर्य फैलाने वाला है; उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आह भरने वाला नहीं। उसके प्रभाव से वनचर्य्या में एक अद्भुत रमणीयता आ गई है। सारे कँटीले पथ प्रसूनमय हो गये हैं। संपूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है। कोमलाङ्गी सीता अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओं और कंधे के ऊपर निकली हुई धनुष की वक्र कोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन काननों में निःशंक विचर रही हैं। खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती बढ़ी आ रही है। राम कुछ मुसकिरा कर एक वार प्रेम भरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं; फिर वीरदर्प से राक्षसों की ओर दृष्टि फेर कर अपना धनुष चढ़ाते हैं। उस वीरदर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा! सीता-हरण होने पर राम का जो वियोग सामने आता है वह भी चारपाई पर करवटें बदलने वाला नहीं; समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतारने वाला है।

उस एकान्तिक प्रेम की अपेक्षा जो प्रेमी को एक घेरे में उसी प्रकार वन्द कर देता है जिस प्रकार कोई मर्ज मरीज को एक कोठरी में डाल देता है; हम उस प्रेम का अधिक मान करते हैं जो एक संजीवनी रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन-पथ को रमणीय और सुन्दर कर देता है, उसके सारे कर्मक्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है। जो प्रेम जीवन की नीरसता हटाकर उसमें सरसता ला दे, वह प्रेम धन्य है। जिस प्रेम का रंजनकारी प्रभाव, विद्वान की बुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता, वीर के उत्साह तक वरावर फैला दिखाई दे उसे हम भगवान का अनुग्रह समझते हैं। भगवद्भक्ति के लिए हम तो प्रेम की यही पद्धति समीचीन मानते हैं। जब कि प्रिय के सम्बन्ध से न जाने कितनी वस्तुएँ प्रिय हो जाती हैं तब उस परम प्रिय के सम्बन्ध से सारा जगत् प्रिय हो सकता है। शुद्ध भक्ति मार्ग में जगत् से विरक्ति का हम स्थान ढूँढ़ते हैं और नहीं पाते हैं। भक्ति राग की वह दिव्य भूमि है

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसके भीतर सारा चराचर जगत् आ जाता है। जो भक्त जगत् को ब्रह्म की ही व्यक्त सत्ता या विभूति समझेगा, भगवान् के लोकपालक और लोकरंजक स्वरूप पर मुग्ध रहेगा, वह अपने स्नेह, अपनी दया, अपनी सहानुभूति को लोक में और फैलाएगा कि चारों ओर से खींच लेगा ? हम तो जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार में ही भक्ति का प्रकृति लक्षण देखते हैं क्योंकि राम की ओर ले जानेवाला रास्ता इसी संसार से होता हुआ गया है।

ऐकान्तिक और लोकबद्ध, प्रेम के इन दो स्वरूपों का परिचय हो चुका। अब हम प्रेमी और प्रिय इन दो पक्षों की पारस्परिक स्थिति पर कुछ विचार करना चाहते हैं। प्रेम कहीं तो दोनों पक्षों में युगपद् होता है अर्थात् आरम्भ से ही सम रहता है; कहीं पहले एक में उत्पन्न होकर फिर दूसरे में होता है और कहीं एक में उत्पन्न होकर रह जाता है, दूसरे में होता ही नहीं अर्थात् विषम ही रह जाता है। पहले कहा जा चुका है कि किसी के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही प्रेमी उसे अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर होता है। यह आतुरता तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के लिए होती है जिसके बिना प्रेम सफल नहीं जान पड़ता। तुल्यानुराग के प्रयत्न की भी एक बँधी हुई पद्धति दिखाई पड़ती है।

दूसरों की ओर द्रवित करने वाली हृदय की दो कोमल वृत्तियाँ हैं—करुणा और प्रेम। इनमें से प्रेम का पात्र होने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की विशिष्टता अपेक्षित होती है। इससे दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न कर सकने का निश्चय किसी को जल्दी नहीं हो सकता। पर दया का पात्र होने के लिए केवल दुःख या पीड़ा का प्रदर्शन ही पर्याप्त होता है। दया का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। दया मनुष्य मात्र का धर्म है और प्राणी मात्र उसके अधिकारी हैं। दया यह नहीं देखने जाती कि दुःखी या पीड़ित कौन और कैसा है। इसी से प्रेमी कभी तो यह चेष्टा करता दिखाई पड़ता है कि वह भी प्रिय को अच्छा लगे और कभी ऐसे उपायों का अवलम्बन करता है जिनसे प्रिय के हृदय में उनके ऊपर दया उत्पन्न हो। दया उत्पन्न करके वह प्रिय के अन्तस् में प्रेम की भूमिका बाँधना चाहता है। वह समझता है कि दया उत्पन्न होगी तो धीरे-धीरे प्रेम भी उत्पन्न हो ही जायगा। वह वियोग की अपनी दारुण वेदना प्रिया के कानों तक पहुँचाता रहता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह न समझना चाहिए कि प्रिय के हृदय में दया उत्पन्न करने की यह चाह तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के पूर्व तक ही रहती है। यह प्रेम मार्ग की एक सामान्य प्रवृत्ति है जो प्रेमी के हृदय में सदा बनी रहती है। बात यह है कि जिस प्रकार दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न करने की जरूरत होती है उसी प्रकार बराबर बनाए रखने की भी। प्रेम की रखवाली करने के लिए प्रेमी प्रिय के हृदय में दया को बराबर जगाता रहता है। दया या करुणा का भाव जाग्रत रखने की प्रवृत्ति का प्रकर्ष फारसी उर्दू की शायरी में विशेष रूप में पाया जाता है। वहाँ प्रेमी जीते जी यार के कूचे में अपनी कब्र बनवाते हैं, उस कूचे के कुत्तों के नाम अपनी हड्डियाँ वक्फ करते हैं और बार-बार मरकर अपना हाल सुनाया करते हैं। मरण से बढ़कर करुणा का विषय और क्या हो सकता है? शत्रु तक का मरना सुनकर सहानुभूति का एक-आध शब्द मुंह से निकल आता है। प्रिय के मुख से निकले हुए सहानुभूति के शब्द-सा-प्रिय संसार में और कोई शब्द नहीं हो सकता। 'बेचारा बहुत अच्छा था', प्रिय के मुंह से इस प्रकार के कुछ शब्दों की संभावना पर ही आशिक लोग अपने मर जाने की कल्पना बड़े आनन्द से किया करते हैं। जब कि सहानुभूति के एक शब्द का इतना मोल है तब अश्रु का तो कोई मोल ही नहीं हो सकता; प्राण के बदले में भी वह सस्ता ही जँचेगा। यदि प्रेमी को यह निश्चय हो जाय कि मर जाने पर प्रिय की आँखों में आई हुई आँसू की एक बूंद वह देख सकेगा तो वह अपना शरीर छोड़ने के लिए तैयार हो सकता है।

यह कहा जा चुका है कि तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा हो जाने पर ही प्रेम को पूर्ण तुष्टि और सफलता प्राप्त होती है। हमारे साहित्य के पुराने आचार्यों ने एक पक्ष की प्रीति को रसाभास के अन्तर्गत लिया है। जब तक तुल्यानुराग की संभावना रहती है या प्रिय-पक्ष की विरक्ति और उदासीनता का प्रमाण सामने नहीं रहता तब तक रस में त्रुटि नहीं मानी जाती। प्रेमी का तिरस्कार करता हुआ प्रिय जब अन्य में अनुरक्त पाया जाता है तब उसकी विरक्ति का पक्का प्रमाण सामने आ जाता है। ऐसी दशा में भी बने रहने वाले प्रेम की चर्चा काव्यों में मिलती है। फारसी और उर्दू की शायरी में तो आशिकों की अकसर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह शिकायत रहती है कि "माशूक गैरों से मिला करता है और हमारी ओर ताकता तक नहीं।" कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की शिकायत भी कुछ-कुछ इसी ढंग की हो गई थी।

रस और रसाभास की बात छोड़ हमें प्रेम के उस स्वरूप पर विचार करना है जिसमें प्रेमी तो प्रेम में विह्वल रहता है और प्रिय उसकी ओर कुछ ध्यान ही नहीं देता या बराबर उसका तिरस्कार ही करता जाता है। क्या ऐसा प्रेम कोई प्रेम ही नहीं है? यह नहीं कहा जा सकता। प्रेमी तो प्रेम कर चुका, उसका कोई प्रभाव प्रिय पर पड़े या न पड़े। उसके प्रेम में कोई कसर नहीं। प्रिय यदि उससे प्रेम करके आत्मा को तुष्ट नहीं करता तो इसमें उसका क्या दोष है? तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता में कोई त्रुटि नहीं आ सकती। जहाँ तक ऐसे प्रेम के साथ तुष्टि की कामना या अतृप्ति का क्षोभ लगा दिखाई पड़ता है वहाँ तक तो उसका वैसा उत्कर्ष प्रकट नहीं होता। पर जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले से ही नहीं रहती, वहाँ प्रेम का अत्यन्त निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा अत्यन्त उच्च भूमि पर होती है जहाँ सामान्य हृदयों की पहुँच नहीं हो सकती। इस उच्च भूमि पर पहुँचा हुआ प्रेमी प्रिय से कुछ भी नहीं चाहता है केवल यही चाहता है—प्रिय से नहीं, ईश्वर से—कि हमारा प्रिय बना रहे और हमें ऐसा ही प्रिय रहे। इसी उच्च दशा का अनुभव करती हुई सूर की गोपियाँ कहती हैं—

जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तह, लेहु कोटि सिर भार।
यहि असीस हम देति सूर सुनु, 'न्हात खसै जनि बार'॥

ऐसे प्रेमी के लिए प्रिय की तुष्टि या सुख से अलग अपनी कोई तुष्टि या सुख रह ही नहीं जाता। प्रिय का सुख-संतोष ही उसका सुख-संतोष हो जाता है। बंकिम बाबू की, 'दुर्गेश-नन्दिनी में आयशा का जगत सिंह पर अनुराग इसी उच्च भूमि पर लाकर छोड़ा गया है। जिस दिन से उसे जगत सिंह और तिलोत्तमा के प्रेम का पता चलता है उसी दिन से वह अपने प्रेम को भौतिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामनाओं से मुक्त करने लगती है और अन्त में तिलोत्तमा के साथ जगत सिंह का विवाह कराकर पूर्ण शान्ति के साथ प्रेम के विशुद्ध मानस लोक में प्रवेश करती है।

प्रेमी यदि अपने प्रेम का कोई प्रभाव प्रिय पर न देखे तो उसके सामने प्रेम की यही उच्च-भूमि दिखाई पड़ती है। सान्निध्य या संपर्क की कामना के त्याग द्वारा ही वह प्रेम-रक्षा और शान्ति-लाभ कर सकता है। यदि उसमें यह क्षमता न होगी तो प्रतिवर्तन (Reacltion) द्वारा घोर मानसिक विप्लव और पतन की आशंका रहेगी; ईर्ष्या आदि बुरे भावों के संचार के लिए रास्ता खुल जायगा। यहाँ तक कि समय-समय पर क्रोध का दौरा होगा और प्रेम का स्थान वैर ले लेगा।

प्रेम-काव्यों में प्रायः रूप-लोभ ही प्रेम का प्रवर्त्तक दिखाया जाता है। किसी के उत्कृष्ट रूप-गुण पर कोई मुग्ध होता है और उसका प्रेमी वन जाता है। पर प्रेम का एक और कारण, जो रूप-गुण से सर्वथा स्वतंत्र और उसकी अपेक्षा अधिक निश्चित प्रभाव वाला होता है, साहचर्य है। देशप्रेम के अन्तर्गत इसका उल्लेख हो चुका है। किसी अरव को उसकी रेगिस्तानी जन्मभूमि से ले जाकर काश्मीर के हरे-भरे, मैदान में रख दें तो भी वह अपने देश के वियोग में रोया करेगा। इसी प्रकार जिन मनुष्यों के बीच कोई वचपन से या बहुत दिनों से रहता चला आता है, उनके प्रति उसके हृदय में एक स्थायी प्रेम हो जाता है। इस साहचर्यगत प्रेम में विशेषता यह होतो है कि इसका वेग साहचर्य-काल में तो कुछ अवसरों पर ही रह-रहकर व्यक्त होता है, पर विच्छेद-काल में बरावर उमड़ा रहता है। भाई-बहिन, पिता-पुत्र, इष्ट मित्र से लेकर चिर-परिचित पशु-पक्षी और वृक्ष तक का प्रेम इसी ढब का होता है। रूप-गुण की भावना में उत्पन्न प्रेम भी आगे चलकर कुछ दिनों में यह साहचर्य-जन्य स्वरूप प्राप्त करता है। अतः प्रेम के इस स्वरूप का महत्त्व बराबर ध्यान में रहना चाहिए।

लोभ या प्रेम की सबसे बड़ी विलक्षणता का उल्लेख करके अब हम यह निबंध समाप्त करते हैं। यही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यंजना हँसकर भी की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाती है और रोकर भी; जिसके व्यंजक दीर्घ निःश्वास और अश्रु भी होते हैं तथा हर्ष-पुलक और उछल-कूद भी। इसके विस्तृत शासन के भीतर आनंदात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार आ जाते हैं। साहित्य के आचार्यों ने इसी से शृंगार के दो पक्ष कर दिये हैं—संयोग पक्ष और वियोग पक्ष। कोई और भाव ऐसा नहीं है जो आलंबन के रहने पर तो एक प्रकार की मनोवृत्तियाँ और चेष्टाएँ उत्पन्न करे और न रहने पर बिल्कुल दूसरे प्रकार की। कुछ और भाव भी लोभ या प्रेम का-सा स्थायित्व प्राप्त करते हैं—जैसे; क्रोध बहुत दिनों तक टिका रह जाने पर द्वेष या वैर का रूप धारण करता है और जुगुप्सा घृणा या विरक्ति का—पर यह विशेषता और किसी में नहीं पाई जाती। मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों पर लोभ या प्रेम से शासन का यही दीर्घ विस्तार देखकर लोगों ने शृंगार को 'रसराज' कहा है।

●●

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४ | देवदारु

हजारी प्रसाद द्विवेदी

पता नहीं किसने इस पेड़ का नाम 'देवदारु' रख दिया था, नाम निश्चय ही पुराना है, कालिदास से भी पुराना, महाभारत से भी पुराना। सीधे ऊपर की ओर उठता है, इतना ऊपर कि पासवाली चोटी से भी ऊपर उठ जाता है, एकदम द्युलोक को भेद करने की लालसा से। नीचे, शाखाएँ मर्त्यलोक को अभयदान देने की मुद्रा में फैलती चली जाती हैं, मानो कह रही हों, भय नहीं, मैं जो हूँ! प्रत्येक शाखा की झबरीली टहनियाँ कँटीले पत्तों के ऐसे लहरदार छन्दों का वितान तानती हैं कि छाया चेरी-सी अनुगमन करती है। जिस आचार्य ने परिपाटीविहित शिष्टजनानुमोदित 'सज्जा' को 'छाया' नाम दिया था, वह जरूर इस पेड़ की शोभा से प्रभावित हुआ था। पेड़ क्या है, किसी सुलझे हुए कवि के चित्त का मूर्तिमान् छन्द है—धरती के आकर्षण को अभिभूत करके लहरदार वितानों की शृङ्खला को सावधानी से सँभालता हुआ, विपुल व्योम की ओर एकाग्रीभूत मनोहर छन्द। कैसी शान है, गुरुत्वाकर्षण के जड़-वेग को अभिभूत करने की कैसी स्पर्द्धा है—प्राण के आवेग की कैसी उल्लासकर अभिव्यक्ति है! देवताओं का दुलारा पेड़ नहीं तो यह क्या है? क्या यों ही समाधि लगाने के लिए महादेव ने 'देवदारुद्रुम-वेदिका' को ही पसन्द किया था? कुछ बात होनी चाहिए। कोई नहीं बता सकता कि महादेव समाधि लगाकर क्या पाना चाहते थे। उन्हें कमी किस बात की थी? कालिदास ने बताया है कि उन्होंने इस प्रयोजनातीत (निष्प्रयोजन तो कैसे कहें!) समाधि के लिए देवदारुद्रुम के नीचे वेदिका बनाई थी। शायद इसलिए कि देवदारु भी अर्थातीत छन्द है—प्राणों का उल्लासनर्तन, जड़-शक्ति के दुर्वार आकर्षण को पराभूत करके विपुल व्योम-मण्डल में विहार करने का अर्थातीत आनन्द!

कहते हैं, शिव ने जब उल्लासातिरेक में उद्दाम नर्तन किया था तो उनके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिष्य तण्डु मुनि ने उसे याद कर लिया था। उन्होंने जिस नृत्य का प्रवर्तन किया उसे 'ताण्डव' कहा जाता है। 'ताण्डव' अर्थात् 'तण्डु' मुनि द्वारा प्रवर्तित 'रस-भाव-विवर्जित' नृत्य! रस भी अर्थ है, भाव भी अर्थ है, परन्तु ताण्डव ऐसा नाच है जिसमें रस भी नहीं; भाव भी नहीं। नाचनेवाले का कोई उद्देश्य नहीं, मतलब नहीं, 'अर्थ' नहीं। केवल जड़ता के दुर्वार आकर्षण को छिन्न करके एकमात्र चैतन्य की अनुभूति का उल्लास! यह 'एकमात्र' लक्ष्य ही छन्द भरता है, इसी से उसमें ताल पर नियन्त्रण बना रहता है। एकाग्रीभाव छन्द की आत्मा है। अगर यह न होता तो शिव का ताण्डव बेमेल धमाचौकड़ी और लस्टम-पस्टम उछल-कूद के सिवा और कुछ न होता। ताण्डव की महिमा आनन्दोन्मुखी एकाग्रता में है। समाधि भी एकाग्रता चाहती है। ध्यान, धारणा और समाधि की एकाग्रता से ही 'योग' सिद्ध होता है। बाह्य प्रकृति के दुर्वार आकर्षण को छिन्न करने का उल्लास ताण्डव है। अन्तःप्रकृति के असंयत फिकाव को नियन्त्रित करने के उल्लास का नाम समाधि है। देवदारु वृक्ष पहले प्रकार के उल्लास को सूचित करता है, शिव का 'निर्वात निष्कम्प इव प्रदीपः' रूप दूसरे प्रकार के। दोनों में एक ही छन्द है। शिव ने समझ-बूझकर ही देवदारु-द्रुम की वेदिका को पसन्द किया होगा। देवदारु के नीचे समाधिस्थ महादेव! तुक मिल रहा है, शानदार तुक! कौन कहता है कि कालिदास ने तुक मिलाने की परवा नहीं की। मेरा मन कहता है कि कालिदास भी तुकाराम थे, तुक मिलाने के मौजी वाग्विलासी! मगर ये तुक भोंड़े किस्म के नहीं होते थे, यह तो निश्चित है। 'झगरे रगरे-वगरे डगरे' ये भी कोई तुक है! मगर सारी दुनिया इसी को तुक कहती आ रही है। कुछ-न-कुछ तो होगा ही, सारी दुनिया पागल नहीं हो सकती। लेकिन यह भी सही है कि 'बात-बात' में तुक मिला करता करता है। अगर ऐसा न होता तो 'वेतुकी' हांकनेवालों को बुरा न माना जाता। जो लोग 'तुक की बात करते हैं, वे शब्द की ध्वनियों का तुक तो नहीं मिलाते। फिर तुक है क्या?

तुक वह है जो देवदारु की गगनचुंबी शिखा और समाधिस्थ महादेव की निर्वात-निष्कंप प्रदीप की ऊर्ध्वगामिनी ज्योति में है! अर्थात् तुक अर्थ में रहता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। ध्वनि-साम्य के तुक में कुछ-न-कुछ अर्थचारुता होनी चाहिए। ध्वनिसाम्य साधन है, तुक अर्थ का धर्म होना चाहिए। मगर ऐसा कहना खतरे से खाली नहीं है। किसी नये आलोचक ने अर्थ की लय की वकालत की है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि सारी पण्डित-मण्डली उस गरीब पर बरस पड़ी है। अगर तुक अर्थ में मिल सकता है तो लय क्यों नहीं मिल सकता। मेरे अन्तर्यामी कहते हैं कि तुक तो अर्थ में रहता है, लय नहीं रहता। बहुत से लोग अन्तर की आवाज को आँख मूँदकर मान लेते हैं, मैं नहीं मान पाता! आँख खोलने पर भी यदि अन्तर की आवाज ठीक जँचे तो मान लेना चाहिए। क्योंकि उस अवस्था में भीतर और बाहर का तुक मिल जाता है। शिवजी ने अन्तर और बाहर का तुक मिलाने के लिए ही देवदारु को चुना था। अन्तर्यामी भी बहिर्यामी के साथ ताल मिलाते रहें यही उचित है। महादेव ने आँखें मूँद ली थीं, देवदारु ने खोल रखी थीं। महादेव ने भी जब आँख खोल दी तो तुक बिगड़ गया, छन्दोभङ्ग हो गया, त्रैलोक्य को मदविह्वल करने वाला देवता भस्म हो गया। उसका फूलों का तूणीर जल गया, रत्न-जटित धनुष टूट गया। सब गड़बड़ हो गया। सोचता हूँ—उस समय देवदारु की क्या हालत हुई होगी। क्या इतनी ही फक्कड़ाना मस्ती से झूम रहा होगा? क्या ऐसा ही बेलौस खड़ा होगा? शायद हाँ, क्योंकि शिव की समाधि टूटी थी, देवदारु का ताण्डव—रसभाव-वर्जित महानृत्त—नहीं टूटा था। देवता की तुलना में वह निर्विकार रहा—काठ बना हुआ। कौन जाने इसी कहानी को सुनकर किसी ने इसे 'देवता का काठ' (देव-दारु) नाम दे दिया हो। फक्कड़ हो तो अपने लिए हो बाबा, मनुष्य के लिए तो निरे काठ हो; दया नहीं, मोह नहीं आसक्ति नहीं; निरे काठ! ऐसों से तो देवता ही भला! कहीं न कहीं उसमें दिल तो है। मगर यह भी कैसे कहा जाए! देवता के दिल होता तो लाज-शरम भी होती, लाज-शरम होती तो आँखों की पलकें भी झँपती। लेकिन देवता है कि ताकता रहता है; पलकें उसकी झँपती ही नहीं! एक क्षण के लिए उसने आँखें मूँदी कि अनर्थ हुआ! बहुत सावधान, सदा जाग्रत।

अलबत्त, महादेव इन देवताओं से भिन्न थे। जहाँ आँखें झुकनी चाहिए,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहाँ उनकी आँखें झुकती थीं, जहाँ टकटकी बँधनी चाहिए वहाँ बँध जाती थी। पार्वती जब बसन्तपुष्पों के आभरण से सजी हुई सञ्चारिणी पल्लविनी लता की भाँति उनके सामने आईं, तो उनके (पार्वती के) बिम्बफल के समान अधरोष्ठ वाले मोहक मुख पर उनकी टकटकी बँध गई। फिर उनकी आँखें झुकीं भी। वे मनुष्य के समान विकारग्रस्त हुए। वे देवताओं में मनुष्य थे—महादेव! उस दिन देवदारु चूक गया। वह सब देखता रहा। इतना बड़ा अनर्थ हो गया और अपने अवधूतपन का बाना नहीं छोड़ा। वह महावृक्ष नहीं बन सका, 'देव-दारु' बन गया। आँखें खोले रहना भी कोई तुक की बात है! महावृक्ष वन-स्पति होते हैं, जिनमें भावुकता तो नहीं पर सार्थकता होती है, जो फूल तो नहीं देते पर फल देते हैं—'अपुष्पा फलवन्तो ये'। देवदारु चूक गया, 'वनस्पति' की मर्यादा से वंचित रह गया।

तो क्या हुआ? यह सब मनुष्य की आत्म-केन्द्रित दृष्टि का प्रसाद है। देवदारु को इससे क्या लेना-देना। वह तो जैसा है वैसा बना हुआ है तुम उसे वनस्पति कहो या देवता का काठ कहो। तुम्हें अच्छा लगता है तो अच्छा नाम देते हो, बुरा लगता है तो बुरा नाम देते हो। नाम में क्या धरा है। मुमकिन है, इसका पुराना नाम देवतरु हो। देवता का तरु नहीं, देवता भी और तरु भी। देव होकर वह छंद है, तरु होकर अर्थ है। छंद, समष्टिव्यापिनी जीवनगति के समानान्तर चलने वाले व्यष्टिगत प्राणवेग का नाम है; अर्थ, समाज स्वीकृति प्राप्त संकेत हुआ करता है।

जहाँ बैठकर लिख रहा हूँ वहाँ से ऊपर और नीचे पर्वतपृष्ठ पर देवदारु वृक्षों की सोपान-परम्परा-सी दीख रही है। कैसी मोहक शोभा है। वृक्ष और भी हैं, लोगों ने नाम भी बताए हैं, पर सब छिप गये हैं। दिखते हैं, आकाश-चुम्बी देवदारु; ऐसा लगता है कि ऊपर वाले देवदारु वृक्षों की फुनगी पर से लुढ़का दिया जाऊँ तो फुनगियों पर ही लोटता हुआ हजारों फीट नीचे तक जा सकता हूँ अनायास! पर ऐसा लगता ही भर है। भगवान् न करे कोई सचमुच लुढ़का दे। हड्डी-पसली चूर हो जायगी। जो कुछ लगता है वह सचमुच हो जाए तो अनर्थ हो जाए। लगने में बहुत-सी बातें गलत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगती हैं। इसलिए कहता हूँ कि लगना अर्थ नहीं होता, कई बार अनर्थ होता है। अर्थ वास्तविकता है, वास्तविक जगत् की सचाई है; लगता है सो मन का विकल्प है, अन्तर्जगत् की स्पृहा मात्र है, छंद है। दोनों में कहीं ताल-तुक मिल जाता तो काम की बात होती। नहीं मिलता, यह खेद की बात है। ताल-तुक मिलना अर्थ है, न मिलना अनर्थ है।

प्रत्येक व्यक्ति के मन में कुछ-न-कुछ लगता रहता है। मजेदार बात यह है कि व्यक्ति का लगना अलग-अलग होता है। 'अ-लग' अर्थात् जो न लगे। लगता है पर नहीं लगता, यह भी कोई तुक की बात हुई? तुक की बात तब होती जब लगना 'अलग' लगना न होता। इसीलिए कहता हूँ कि तुक अर्थ में होता है। जिसने इस पेड़ का नाम देवदारु दिया था उसे क्या लगा था, कह नहीं सकता। बात औरों को भी कमोवेश लगी होगी, तभी सबने मान लिया। जो सबको लगे सो अर्थ; एक को लगे, बाकी को न लगे तो अनर्थ! अलगाव को ही पुराने आचार्यों ने पृथक्त्व बुद्धि का नाम दिया है। और भी समझाकर कहा है कि यह अलगाव 'मैं-पन' है, 'अहंकार' है। इधर कवि लोग हैं कि उन्हें हमेशा कुछ देख कर कुछ-न-कुछ लगता ही रहता है। खुले आम कहते हैं कि मुझे ऐसा लग रहा है। क्यों कहते हो बाबा कि 'मुझे' ऐसा लग रहा है। दुनिया की ओर भी देखो। वह तुम्हें पागल कहेगी। पागल को भी तो कुछ-न-कुछ लगता ही रहता है। मगर दुनिया को देखता हूँ तो हैरत में पड़ जाता हूँ। कवि को जो कुछ लगता है, उसके लिए वाह-वाह कहके उसे सिर उठा लेती है। कुछ समझ में नहीं आता—'हौं ही बौरी बिरह बस. कै बौरो सब गाँव।

बिहारी अच्छे खासे कवि माने जाते हैं। उन्हीं की बात याद आ गई थी। बात इतनी ही-सी थी कि कोई विरह की मारी स्त्री कह रही है कि मैं ही पागल हो गई हूँ या सारा गाँव पागल हो गया है? क्या समझ कर ये लोग चाँद को ठंडी किरनवाला कहते हैं—'कहा जानि ये कहत हैं ससिहिं सीतकर नाँव।' विरह की मारी महिला का दिमाग बिगड़ गया है, जो सबको ठंडा लग रहा है, उसे वह दाहक मान रही है। पागलपन ही तो है। मगर जब बिहारी ने उसे दोहा-छंद में बाँध दिया तो बात बिलकुल बदल गई। हाय-हाय कैसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरह-वेदना है कि उस सुकुमार बालिका को चाँद भी गरम मालूम पड़ता है। हृदय के भीतर जलनेवाली विरहाग्नि ने उसे किसी काम का नहीं छोड़ा। हे भगवान्, तुम ऐसा कुछ नहीं कर सकते कि सारे गाँव के समान इस बालिका को भी चन्द्रमा उतना ही शीतल लगे जितना औरों को लगता है! अर्थात् विरहिणी की दारुण व्यथा अब सबके चित्त की सामान्य अनुभूति के साथ ताल मिलाकर चलने लगी। पागल का 'लगना' एक का लगना होता है, कवि का 'लगना' सबको लगने लगता है। बात उलटकर कही जाए तो इस प्रकार होगी—जिसका लगना सबको लगे वह कवि है, कवि जिसका लगना सिर्फ उसे ही लगे; और को नहीं, वह पागल है। लगने-लगने में भी भेद है। जो सबको लगे वह अर्थ है, जो एक को ही लगे, वह अनर्थ है। अर्थ सामाजिक होता है।

मगर देवदारु नाम केवल नाम ही नहीं है। मैंने अपने गाँव के एक महान् भूत-भगावन ओझा को देवदारु की लकड़ी से भूत भगाते देखा है। आजकल के शिक्षित लोग भूत में विश्वास नहीं करते। वे भूत को मन का वहम मानते हैं। पर गाँव में भूत लगते मैंने देखा है। भूत भागते भी देखा है। भूत भी 'लगता' है। सब लगालगी वहम ही होती होगी। आँखों की भी। बिहारी जानते थे। कह गए हैं—'लगालगी लोयन करें; नाहक मन बँधि जाय।' नाहक अर्थात् बेमतव, निरर्थक।

हमारे गाँव में एक पंडितजी थे। अपने को महाविद्वान् मानते थे। विद्या उनके मुँह से फचाफच निकला करती थी। शास्त्रार्थ में वे बड़े-बड़े दिग्गजों को हरा देते थे। विद्या के जोर से नहीं, फचफचाहट के आघात से। प्रतिपक्षी मुँह पोंछता हुआ भागता था। अगर कुछ कँड़े का हुआ तो दैहिक बल से जय-पराजय का निश्चय होता था। मेरे सामने ही एक बार खासी गुत्थमगुत्थी हो गई। गाँव-जवार के लोगों को पंडितजी की विद्या पर भरोसा नहीं था, पर उनकी फचाफच वाणी और भीमकाया पर विश्वास अवश्य था। शास्त्रार्थ में पंडितजी कभी हारे नहीं। कम लोग जानते हैं कि शास्त्रार्थ में कोई हारता नहीं, हराया जाता है! पंडितजी के यजमान जमके उनके पीछे लाठी लेकर खड़े हो जाते थे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो उनकी विजय निश्चित हो जाती थी। पंडितजी केवल बड़े दिग्गज विद्वानों को ही नहीं, आसपास के भूतों को भी पराजित करने में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते थे। गायत्री का मन्त्र (जो उनके मुँह से आल्हा जैसा सुनाई देता था) और देवदारु की लकड़ी—उनके अस्त्र थे। एक बार वे बगीचे से गुजर रहे थे, घोर अंधकार, भयंकर सुनसान ! क्या देखते हैं कि आगे दनादन ढेले गिर रहे हैं। पंडितजी का अनुभवी मन तुरन्त ताड़ गया कि कुछ दाल में काला है। मनुष्य इतनी तेजी से ढेले नहीं फेंक सकता। पंडितजी डरनेवाले नहीं थे। पीछे मुड़कर ललकारा—अरे केवन है ! केवन अर्थात् कौन। पीछे मुँड़कट्टा, घोड़े पर चढ़ा चला आ रहा था, टप्प-टप्प-टप्प ! (यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए बता दूँ कि एक बार मैंने अपने गाँव में भूतों के जाति-भेद की जाँच की थी। कुल तेईस किस्म के हैं। मुँड़कट्टा एक भूत ही है। मूँड़ नहीं है। छाती पर दो आँखें मशाल की तरह जलती रहती है। घोड़े पर चढ़कर चलता है) सो, पंडितजी से उलझने की हिमाकत की इस दुरन्त मुँड़कट्टे ने। डरनेवाला कोई और होता है। पंडितजी ने जूता उतार दिया, वह गायत्री मन्त्र के पाठ में बाधक था। झमाझम गायत्री पढ़ने लगे। देवदारु की लकड़ी मुट्ठी में थी। दे रद्दे पर रद्दा। विचारा मुँड़कट्टा त्राहि-त्राहि कर उठा। अबकी बार छोड़ दो पंडितजी, पहचान नहीं सका था। अब फिर यह गलती नहीं होगी। आज से मैं तुम्हारा गुलाम हुआ। पंडितजी का ब्राह्मण मन पसीज गया। नहीं तो यह सारे गाँव-जवार का कंटक समाप्त ही हो गया होता। मैंने यह कहानी स्वयं पंडितजी के मुँह से सुनी थी। अविश्वास करने का कोई उपाय नहीं था—फर्स्टहैंड इन्फर्मेशन था। उस दिन मेरे बालचित्त पर देवदारु की धाक जम गई थी। अब भी क्या दूर हुई है ?

आज देवदारु के जंगल में बैठा हूँ। लाख-लाख मुँहकट्टों को गुलाम बना सकता हूँ। भूतों में जैसे मुँड़कट्टे होते हैं, आदमियों में भी कुछ होते हैं। मस्तक नाम की चीज उनके पास होती ही नहीं, मस्तक ही नहीं तो मस्तिष्क कहाँ, लता ही कट गई तो फूल की सम्भावना ही कहाँ रही—'लतायां पूर्वलूनायां

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसूनस्योद्भवः कुतः' ? क्या इन मुंड़कट्टों को देवदारु की लकड़ी से पराभूत किया जा सकता है ? करने का प्रयत्न ही तो कर रहा हूं । परन्तु पंडितजी के पास तो फचफची गायत्री थी, वह कहाँ पाऊँ ?

मन की सारी भ्रान्ति की दूर करनेवाले देवदारु, तुम्हें देखकर मन श्रद्धा से जो भर जाता है, वह अकारण नहीं है । तुम भूत-भगावन हो, तुम वहम-मिटावन हो, तुम भ्रान्ति-नसावन हो । तुम्हें दीर्घकाल से जानता था, पर पहचानता नहीं था । अब पहचान भी रहा हूँ । तुम देवता के दुलारे हो, महादेव के प्यारे हो, तुम धन्य हो ।

जानता हूँ कि बुद्धिमान लोग कहेंगे कि यह महज गप्प है । यह भी जानता हूँ कि कदाचित् अन्तिम विश्लेषण पर पंडितजी की कहानी 'पत्ता खड़का, बन्दा भड़का' से अधिक वजनदार न साबित हो । संभावना तो यहाँ तक है कि पत्ता भी न खड़का हो और पंडितजी ने आद्योपान्त पूरी कहानी बना ली हो । मगर बलिहारी है इस सर्जनशक्ति की । क्या शानदार कहानी रची हैं पंडितजी ने ! आदिकाल से मनुष्य गप्प रचता आ रहा है, अब भी रचे जा रहा है । आजकल हम लोग ऐतिहासिक युग में जीने का दावा करते हैं । पुराना मनुष्य 'मिथकीय युग' में रहता था, जहाँ वह भाषा के माध्यम को अपूर्ण समझता था, वहाँ मिथकीय तत्त्वों से काम लेता था । मिथक—गप्पें—भाषा की अपूर्णता को भरने का प्रयास हैं । आज भी क्या हम मिथकीय तत्त्वों से प्रभावित नहीं हैं ? भाषा बुरी तरह अर्थ से बँधी हुई है । उनमें स्वच्छन्द संचार की शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है । मिथक स्वच्छन्द विचरण करता है । आश्रय लेता है भाषा का, अभिव्यक्त करता है भाषातीत को । मिथकीय आवरणों को हटाकर उसे तथ्यानुयायी अर्थ देनेवाले लोग मनोवैज्ञानिक कहलाते हैं, आवरणों की सार्वभौम रचनात्मकता को पहचाननेवाले कला-समीक्षक कहलाते हैं । दोनों को भाषा का सहारा लेना पड़ता है, दोनों धोखा खाते हैं । भूत तो सरसों में है । जो सत्य है, वह सर्जनशक्ति के सुनहरे पात्र में मुंह बन्द किए ढँका ही रह जाता है । एक-पर-एक गप्पों की परतें जमती जा रही हैं । सारी चमक सीपी की चमक में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाँदी देखने की तरह मन का अध्यास मात्र है । गप्प कहाँ नहीं है, क्या नहीं है ? मगर छोड़िए भी ।

देवदारु भी सब एक से नहीं होते । मेरे बिलकुल पास में जो है, वह जरठ भी है, खूँसट भी । जरा उसके नीचे की ओर जो है, वह सनकी-सा लगता है । एक मोटे राम खड्ड के एक प्रान्त पर उगे हैं आधे जमीन में, आधे अधर में; आधा हिस्सा ठूँठ; आधा जगर-मगर; सारे कुनवे के पाधा जान पड़ते हैं । एक अल्हड़ किशोर है, सदा हँसता-सा; कवि जैसा लगता है । जी करता है इसे प्यार किया जाए । सदा से ऐसा होता आया है । हर देवदारु का अपना व्यक्तित्व होता है । एक इतना कमनीय था कि वैल की ध्वजावाले महादेव ने उसे अपना वेटा बना लिया था । पार्वती माता की छाती से दूध ढरक पड़ा था । कालिदास खुद कह गए हैं । मगर कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उन्हें 'सवै धान वाईस पसेरी' दिखते हैं । वे लोग सबको एक ही जैसा देखते हैं । उनके लिए वह खूँसट, वह पाधा, वह सूम, वह सनकी, वह झिझोटा, वह झबरैला, वह चपरगेंगा, वह गदरौना, वह खिटखिटा, वह झक्की, वह झुमरैला, वह धोकरा, वह नटखटा, वह चुनमुन, वह बाँकुरा, वह चौरंगी, सब समान हैं । महादेवजी के प्यारे बेटे के कमनीय व्यक्तित्व को भी सब नहीं पहचान सकते थे । एक मद-मत्त गजराज आये और अपने गण्डस्थल की खाज मिटाने के लिए उसी पर पिल पड़े । जड़ें हिल गईं, पत्ते झड़ गए, खाल छूट गई और आप खाज मिटाते रहे । महादेव जी को बड़ा क्रोध आया । आना ही था । उन्होंने उसकी रक्षा के लिए एक सिंह तैनात कर दिया । पर मेरे सामने जो अल्हड़ कवि हैं, इनका क्या होगा । वह तो कहिए कि इधर हाथी आते ही नहीं । फिर भी डर तो लगता ही है । हाथी न सही, गधों और खच्चरों से तो शहर भरा पड़ा है । लेकिन मैं जिधर हूँ, उधर वे भी कम ही आते हैं । गाहे-बगाहे आ भी जाते हैं । पर उन्हें देवदारु की तरफ देखने की फुरसत नहीं होती । उन्हें देखने को और बहुत-सी चीजें मिल जाती हैं । बहरहाल, कोई खास चिन्ता की बात नहीं है । इस देश के लोग पीढ़ियों से सिर्फ जाति देखते आ रहे हैं, व्यक्तित्व देखने की उन्हें न आदत है, न परवा है । सन्त लोग चिल्लाकर थक गए कि 'मोल करो तलवार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का, पड़ा रहन दो म्यान' मगर तलवार वन्द ही रह गए, म्यान के मोल-भाव से बाजार गर्म है। व्यक्तित्व को यहाँ पूछता ही कौन है ! अर्थमात्र, जाति है : छन्दमात्र, व्यक्तित्व है। अर्थ आसानी से पहचाना जा सकता है, क्योंकि वह धरती पर चलता है, छन्द आसानी से पकड़ में नहीं आता, वह आसमान में उड़ा करता है।

वात यह है कि जब मैं कहता हूँ कि देवदारु सुन्दर है तो सुननेवाले सुन्दर का एक सामान्य अर्थ ही लेते हैं। हजार तरह के सुन्दर पदार्थों में रहनेवाला एक सामान्य सौन्दर्य धर्म। सौन्दर्य का कौन-सा विशिष्ट रूप मेरे हृदय में उल्लास तरंगित कर रहा है, यह वात वस, मैं ही जानता हूँ। अगर मुझमें इस वात को कहने की शक्ति नहीं हुई तो यह गूँगे का गुड़ बनी रह जाएगी। जिसमें शक्ति होती है, वह कवि कहलाता है। अनेक प्रकार के कौशल से वह इस बात को कहने का प्रयत्न करता है, फिर भी शब्दों का सहारा तो उसे 'लेना ही पड़ता है। शब्द सदा सामान्य अर्थ को प्रकट करते हैं। कवि विशिष्ट अर्थ देना चाहता है। वह छन्दों के सहारे, उपमान—योजना के वल पर, ध्वनिसाम्य के द्वारा विशिष्ट अर्थ का साधारणीकरण करता है। तो भी क्या सव उसके विशिष्ट अर्थ को समझ पाते हैं ? विलकुल नहीं। कोई वड़भागी होता है जिसके दिल की धड़कन कवि के दिल की धड़कन के साथ ताल मिला पाती है। कवि के हृदय के साथ जिनका हृदय मिल जाय उसे 'सहृदय' कहा जाता है। देवदारु की ऊर्ध्वशिखा-शोभा मेरे हृदय में एक विशेष उल्लास पैदा करती है। मेरे पास कवि-कौशल नाम की चीज नहीं है। मैं अपने विशिष्ट अनुभवों का साधारणीकरण नहीं कर पा रहा हूँ। कवि होता तो कर लेता। उपमानों की छटा खड़ी कर देता, सहृदय के चित्त को अपने चित्त के ताल पर नृत्य कराने योग्य छन्द ढूंढ़ लेता, ध्वनियों की नियतसंचारी समता का ऐसा समाँ बाँधता कि सुननेवाले का मन मयूर की भाँति नाच उठता, पर मेरे भाग्य में यह कुछ भी नहीं है। केवल आँख फाड़कर देखता हूँ, पाषाण की कठोर छाती भेदकर यह देवदारु न जाने किस पाताल से अपना रस खींच रहा है और क्रम-ह्रस्व छाया का वितान तानता हुआ ऊर्ध्वलोक की ओर किसी अज्ञात निर्देशक के तर्जनी-संकेत की भाँति कुछ दिखा रहा है। यह इतनी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उँगलियाँ क्या यों ही उठी हुई हैं ? कुछ बात है, अवश्य कुछ रहस्य है। भीतर ही भीतर अनुभव कर रहा हूँ, पर बता सकूँ ऐसी भाषा कहाँ है ? हाय, मैं असमर्थ हूँ, मूक हूँ ! मीमांसकों का एक सम्प्रदाय मानता था कि शब्द का अर्थ वहाँ तक जाता है, जहाँ तक वक्ता ले जाना चाहता है। वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते हैं। ये लोग कहते हैं कि जब जैमिनी मुनि ने कहा था कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' तो उनका यही मतलब था। मेरा रोम-रोम अनुभव कर रहा है कि मुनि की बात का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिए। कहाँ विवक्षा इतनी दूर तक ले जाती है ? 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग करके मैं जो कहना चाहता हूँ, वह कहाँ प्रकट हो पा रहा है ? कहने तो बहुत चाहता हूँ, कोई समझे भी तो। नहीं, शब्द उतना ही बता पाता है, जितना लोग समझते हैं, वक्ता जो कहना चाहता है, उतना कहाँ बता पाता है वह ? दुनिया में कवियों की जो कदर है, वह इसलिए है कि वे जो अनुभव करते हैं, उसे श्रोता के चित में प्रविष्ट भी करा सकते हैं। प्रेषणधर्मिता उनके कहे का एक प्रधान गुण है। मैं नहीं पहुँचा पाता हूँ उस अर्थ को, जिसे मेरा मन अनुभव कर रहा है। क्योंकि मैं शब्दों और छन्दों का ऐसा अस्त्र नहीं पाता हूँ, जो मेरी अनुभूतियों को लेकर तीर की तरह श्रोता के हृदय में चुभ जाए। अर्थ निश्चय ही वक्ता की इच्छा के अधीन नहीं है। वह सामाजिक स्वीकृति चाहता है। उसमें लय नहीं, संगीत नहीं, नाद नहीं, गति नहीं। वह स्थिर है। शब्दों के गतिशील आवेश से वह हिलता है, भरभराता है, नये-नये परिवेश में सजता है और तब कहीं नया अर्थ पैदा करता है। अर्थ में लय नहीं होता, वह लय के सहारे नया अर्थ देता है।

लेकिन देवदारु है शानदार वृक्ष। हवा के झोंकों से जब हिलता है तो उसका आभिजात्य झूम उठता है। कालिदास ने इसी हिमालय के उस भाग की, जहाँ से भागीरथी के निर्झर झरते रहते हैं, शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन की चर्चा की थी उन्होंने शीतलता को भागीरथी के निर्झर सीकरों की देन कहा, सुगन्धि को आसपास के वृक्षों के पुष्पों के सम्पर्क की बदौलत घोषित किया; लेकिन मन्दी के लिए मुहुः कन्दित देवदारु को उत्तरदायी ठहराया। देव-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दारु के बारबार कम्पित होते रहने में एक प्रकार की मस्ती अवश्य है। युग-युगान्तर की संचित अनुभूति ने ही मानो यह मस्ती प्रदान की है। जमाना बदलता रहा है, अनेक वृक्षों और लताओं ने वातावरण से समझौता किया है, कितने ही मैदान में जा बसे हैं और खासी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है; लेकिन देवदारु है कि नीचे नहीं उतरा, समझौते के रास्ते नहीं गया और उसने अपनी खानदानी चाल नहीं छोड़ी। झूमता है तो ऐसा मुसकराता हुआ, मानो कह रहा हो, मैं सब जानता हूँ, सब समझता हूँ। तुम्हारे करिश्मे मुझे मालूम हैं, मुझसे तुम क्या छिपा सकते हो—मो ते दुरैहौ कहा सजनी निहुरे-निहुरे कहुं ऊँट की चोरी !' हजारों वर्ष के उतार-चढ़ाव का ऐसा निर्मम साथी दुर्लभ है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५ | छायावाद

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

छायावादी काव्य-प्रवाह हिन्दी में अब अपनी सुनिश्चित धारा बना चुका है। अब वह केवल विरोध की वस्तु नहीं है और न केवल वाचिक अभ्यर्थना का विषय रह गया है। अब तो उसकी सम्यक् समीक्षा और परीक्षा भी की जा सकती है। आरम्भ से ही अपनी छायात्मक निगूढ़ अभिव्यक्तियों के कारण छायावाद आध्यात्मिक काव्य कहा जा रहा था। पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य की साकार वर्णनाओं के विपरीत इसकी निराकार पद्धति थी, किन्तु इसका यथार्थ स्वरूप अब तक स्पष्ट नहीं किया गया। छायावाद की पद्धति कबीर आदि की निर्गुण निराकार व्यंजनाओं से भिन्न तो है ही, सूफियों की पद्धति से भी पृथक् है। उक्त दोनों परम्पराएँ प्रमुखतः आध्यात्मिक कही जा सकती हैं, यद्यपि सूफी कवियों ने लौकिक संस्कृति के निर्माण में भी कम सहायता नहीं की। आधिभौतिक पक्ष में देखा जाय तो एक ओर उमर खैयाम और दूसरी ओर शेख सादी तथा भारत के जायसी आदि कवियों में बहुत बड़ा दृष्टिभेद है। इन सभी कवियों ने सामयिक संस्कृति और देशकाल की विचारधाराओं को भिन्न-भिन्न स्वरूपों में व्यक्त किया है। उदाहरण के लिये उमर खैयाम की काव्य-धारा अदृष्ट भाग्य या नियति के कठोर चक्र से भयभीत होकर उससे तटस्थ हो जाने का मानो आमंत्रण करती है। उनका काव्य ईरान और फारस की एकान्त वाटिकाओं और उपवनों में दो प्राणियों की प्रेम-परिचर्या का ही सरल आदर्श लेकर उपस्थित हुआ। सादी आदि की रचनाएँ उनसे भिन्न वातावरण और विचार-क्रम का द्योतन करती हैं। जायसी आदि भारतीय सूफियों की कविता न तो उमर खैयाम का-सा भाग्यवाद प्रवर्तित करती है और न दो प्राणियों के एकान्त जीवन और औपवनिक परिस्थितियों का प्रदर्शन करती है, न वह अरबी सूफियों की तरह इस्लाम की छत्रछाया में ही विकसित हुई है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापक भारतीय जीवन और सौन्दर्य में अनेकानेक दृश्यों के बीच से होकर यह काव्य-धारा प्रवाहित हुई है। इस प्रकार देश, काल और विचार-क्रम में भेद होते हुए भी सूफी काव्य मुख्यतः आध्यात्मिक कहा जाता है, क्योंकि उसका लक्ष्य, निराकार प्रेम की अनुभूति, सबमें समान रूप से पाया जाता है। उसके लौकिक, देशकाल-सापेक्ष और सांस्कृतिक पहलू प्रधान स्थान नहीं पा सके हैं, काव्य के प्राण प्रेम—अलौकिक प्रेम—में ही अटके हैं।

कबीर आदि ज्ञान-मार्गियों की आध्यात्मिकता तो एकदम स्पष्ट है। रहस्यमय सत्ता की अभिव्यक्ति और मिथ्या संसार की सुदृढ़ धारणा उनके अध्यात्म के अविचल स्तम्भ हैं। आध्यात्मिक काव्य के लिए एक अखंड सत्ता का स्वीकार—वह प्रेममय हो, ज्ञानमय या आनन्दमय—जितना आवश्यक था, सांसारिक सत्ता या व्यावहारिक जीवन का स्वीकार भी उतना ही अनिवार्य हो गया था। आध्यात्मिक या अध्यात्मवादी काव्य की यही विशेषता थी। साकारोपासक भक्तों ने भी राम-कृष्ण आदि के चरित्रों को अखण्ड अव्यय लीला, दिव्य और अलौकिक कहकर उसी कसौटी को स्वीकार किया है। संसार की प्राकृतिक किसी सत्ता की आत्यन्तिक स्वीकृति सिद्धान्ततः वे भी नहीं करते। यह अवश्य मानना होगा कि साकारोपासक कवियों ने सांस्कृतिक नैतिक और जीवन के व्यावहारिक पक्षों का विस्तृत दिग्दर्शन कराया है, किंतु उनकी दृष्टि अलौकिक आदर्श पर ही रही है। संसार की दृश्यमान वास्तविकता और तज्जन्य प्रगतियों से वे प्रायः दूर ही रहे हैं। तथापि इन कवियों ने जीवन के बहुविध पक्षों का सौंदर्य दिखाया और तत्कालीन संस्कृति के निर्माण में योग दिया। आदर्श और अलौकिक की भूमि पर वे व्यवहार और प्रत्यक्ष की इतनी चर्चा भी कर गये, यह कम नहीं। कबीर आदि निर्गुणियों ने भी आत्मा की व्यापक सत्ता घट-घट में दिखाई और उसे पहचानने का आग्रह किया। साधन-रूप में उन्होंने सरल त्यागमय जीवन की शिक्षा दी तथा जाति-पाँति के भेदों का निषेध किया, किन्तु उनका लौकिक क्षेत्र साकारोपासकों की अपेक्षा भी सीमित था, क्योंकि उनका अध्यात्म लोक से परे की वस्तु थी, जिसकी साधना तटस्थ और ऐकान्तिक ही हो सकती थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकालीन अधिकांश काव्य, वह किसी वाद या सम्प्रदाय से सम्बद्ध क्यों न हो, अलौकिक वातावरण और आध्यात्मिकता का ही दावा करता रहा। सिद्धान्ततः सूर, तुलसी और मीरा तथा कबीर, दादू आदि सगुण और निर्गुण उपासना के कवि एक-सी ही आध्यात्मिक भूमिका का आग्रह करते हैं। सूर के काव्य में कृष्ण-गोपियों की शृंगारिक लीला, तुलसी के काव्य में राम और सीता का मर्यादावादी चरित्र, कबीर की तत्त्व-निरूपक साखियाँ और अन्योक्तियाँ—विषम, भावव्यंजना, काव्य-शैली तथा साहित्यिक विशेषताओं में एक दूसरे से दूर दीख पड़ती हैं, परन्तु तत्त्वतः वे सभी अध्यात्मवादी काव्य की शाखा-प्रशाखाएँ कही जा सकती हैं।

यहाँ प्रसंगवश हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि इस सम्पूर्ण अध्यात्मवादी काव्य की, जो अनेक शताब्दियों तक प्रस्तुत किया जाता रहा, एक-सी प्रेरणा-भूमि नहीं है। भिन्न-भिन्न कवियों ने अपने-अपने मानसिक धरातल से जो काव्य-सृष्टि की है, उसे एक ही 'अध्यात्मवादी' तुला पर तोलना ठीक न होगा। ऐसा करने पर रचनाकारों की वास्तविक जीवन-दृष्टि, उनकी मनःस्थिति तथा काव्यात्मक क्षमता का आकलन न हो सकेगा। अतएव इन मध्यकालीन कवियों का वास्तविक साहित्यिक मूल्य आँकने के लिये आवश्यक है कि इनमें प्रत्येक के 'अध्यात्मवाद' की उनके दार्शनिक और सामाजिक निरूपणों के प्रकाश में परीक्षा की जाये, उनके द्वारा चित्रित चरित्रों और व्यंजित भावनाओं की मनोवैज्ञानिक पद्धति पर आलोचना की जाये—और उनकी काव्यशैली तथा साहित्यिक निर्माण की विशेषताओं को स्वतंत्र भूमि पर रखकर देखा जाये। 'अध्यात्मवादी' होने के कारण ही किसी कवि को काव्य गौरव नहीं प्राप्त हो जाता, न केवल सांप्रदायिक या साधना-विषयक शब्दावली का प्रचुर प्रयोग ही उसे साहित्यिक उत्कर्ष दे सकता है। आवश्यकता यह समझने की है कि कवि की काव्यानुभूति और उसकी साहित्यिक समीक्षा में स्वतन्त्र सत्ता रखती है, किसी वाद के घेरे में वह घेरी नहीं जा सकती।

अस्तु, यह एक प्रासंगिक बात हुई। नई छायावादी काव्य-धारा का भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक आध्यात्मिक पक्ष है; परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर, मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। भारतीय परंपरागत आध्यात्मिक वर्णन की नव-प्रतिष्ठा का वर्तमान अनिश्चित परिस्थितियों में यह एक सक्रिय प्रयत्न है। इसकी एक नवीन और स्वतंत्र काव्य शैली बन चुकी है। आधुनिक परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था और विचार-जगत् में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की, नवीन परिस्थिति के अनुरूप, स्थापना करता है। जिस प्रकार मध्ययुग का जीवन भक्ति-काव्य में व्यक्त हुआ, उसी प्रकार आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति इस काव्य में हो रही है। अन्तर है तो इतना ही कि जहाँ पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य में जीवन के लौकिक और व्यावहारिक पहलुओं को गौण स्थान देकर उनकी उपेक्षा की गयी थी, वहाँ छायावादी काव्य प्राकृतिक सौंदर्य और सामयिक जीवन-परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनुप्राणित है। इस दृष्टि से वह पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य की प्रकृति-निरपेक्षता और संसार-मिथ्या की सैद्धान्तिक प्रक्रियाओं का विरोधी भी है। छायावाद मानव-जीवन-सौंदर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है; उसे अव्यय की वेदी पर बलिदान नहीं कर देता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन काव्य की सीमा में मानव-चरित्र और दृश्य जगत् अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित ही रहे; जब कि नवीन काव्य में समस्त मानव-अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी। अध्यात्मवाद की भूमि पर प्रतिष्ठित होते हुए भी मध्यकालीन भक्तिकाव्य और आधुनिक छायावादी काव्य में कितना बड़ा दृष्टि-भेद है, यह अनुमान किया जा सकता है। इस दृष्टि-भेद के कारण दोनों युगों की काव्यसृष्टियों में जो महत्त्वपूर्ण अन्तर आ गया है, वह साहित्य के विद्यार्थी के अनुशीलन की वस्तु है।

मध्यकालीन अधिकांश काव्य, जो किसी धार्मिक या साधनात्मक प्रणाली के अन्तर्गत रचा गया, एक विशेष अर्थ में साम्प्रदायिक काव्य कहा जा सकता है। तुलसी की 'विनय-पत्रिका', सूरदास के विनय के पद, कबीर की साखियाँ, मीरा के भाव-गीत वास्तव में किसी सगुण या निर्गुण उपास्य के प्रति किए गए आत्म-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवेदन, स्तुतियाँ या ऋचाएँ हैं। राम और सीता-सम्बन्धी चरित्रकाव्य में अथवा राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में स्थिति कुछ भिन्न अवश्य है, क्योंकि वहाँ काव्य अपनी प्रकृत भाव-भूमि पर है और मनोवेगों का निरूपण नैसर्गिक पद्धति पर किया गया है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये प्रसंग सर्वथा स्वाधीन हैं और इनका काव्य-सौन्दर्य चरित्र-काव्य या प्रगति की सामान्य भूमि पर रख-कर परखा जा सकता है। समस्या यह हो जाती है कि भक्ति, उपासना या रहस्य-साधना के सांप्रदायिक आग्रह प्रमुख वन बैठते हैं, और काव्य-साधना की वास्तविक परख नहीं हो पाती। आवश्यकता इस बात की है कि काव्येतर समस्त तत्त्ववाद और साधना-क्रम स्वतंत्र अध्ययन के विषय अवश्य रहें; परन्तु काव्य-विवेचन के अवसर पर उन सबका पर्यवसान रचयिता की मनःस्थिति और जीवन-दृष्टि तथा काव्य की भाव-पीठिका के अन्तर्गत हो जाना चाहिए। ऐसा न होने पर काव्य का वास्तविक आकलन अधूरा ही रह जायेगा।

धरातल

दूसरे शब्दों में हमारा निवेदन यह है कि मध्यकालीन काव्य की समस्त सांप्रदायिक और साधनात्मक प्रेरणाओं को नवीन मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक प्रतिमानों में परिणत करना होगा। ऐसा करने पर ही उक्त काव्य की वास्तविक सीमा-रेखाएँ निर्धारित हो सकेंगी। नवीन मनोविज्ञान की सहायता से यह कार्य अधिक सुगमतापूर्वक हो सकेगा; क्योंकि सांप्रदायिक साधना-सरणियों का काव्य के अन्तर्गत प्रयोग करने में कवियों की व्यक्तिगत मानसिक स्थिति का आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हाथ मानना ही पड़ेगा। 'सूर के श्याम' और 'मीरा के प्रभु', 'विद्यापति की राधा' और 'सूर की राधा' चरित के रूप में तो भिन्न हैं ही, उनके निर्माण की मानसिक प्रेरणा भी एक नहीं है। इसी प्रकार कबीर की रहस्य-भावना उसी मानसिक स्तर पर नहीं है जिस पर दूसरे निर्गुणियों की है; अतएव इस साहित्यिक निर्माण का कवियों की मानसिक स्थिति से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है।

इतना होने पर ही उन कवियों के काव्य की उपयुक्त भूमिका का निर्माण हो सकेगा और उस भूमिका पर रखकर उनका काव्य-सौष्ठव परखा जा सकेगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान स्थिति में यह कार्य प्रायः भ्रामक पद्धति पर किया जाता है। पाठकों के धार्मिक विश्वासों का अनुचित उपयोग कर कुछ समीक्षक कृष्ण-काव्य को अब भी कला और भाव-समीक्षा का वास्तविक विषय नहीं बनाने देते और उनकी अनेकविध साम्प्रदायिक व्याख्याएँ करते रहते हैं। कुछ समीक्षक रहस्यवाद की काव्यभूमि को ही स्वीकार नहीं करते, और कुछ इसके विपरीत, रहस्य-काव्य के दार्शनिक विवेचन में ही सारा पांडित्य खर्च कर देते हैं। ये सभी समीक्षा-प्रकार साहित्यिक आकलन की दृष्टि से एकांगी और अधूरे हैं और साहित्यिक या कलात्मक विवेचन में बाधा उपस्थित करते हैं।

जब तक इस नई पद्धति पर काव्य-विवेचन की प्रतिष्ठा नहीं होती, तब तक मध्यकालीन काव्य का कलात्मक और सांस्कृतिक स्थान निर्धारित करना सम्भव नहीं होगा। साथ ही मध्ययुग की सामाजिक परिस्थिति में उक्त काव्य की कितनी और किस प्रकार पैठ हुई तथा उससे सामाजिक कला-अभिरुचि किस सीमा तक जागृत हुई, और सांस्कारिकता कहाँ तक बढ़ी और विकसित हुई, इन प्रासंगिक प्रश्नों को भी इतिहास के आलोक में हल करना होगा। सारांश यह कि इतिहास और सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि पर उन कवियों की साम्प्रदायिक साधना-विधियों और दार्शनिक निरूपणों का उनकी जीवनी और मानसिक गतिविधि से सम्बन्ध स्थापित करते हुए काव्य की नवीन व्यवस्था करनी होगी और इस प्रकार उन मध्यकालीन कवियों की काव्य-पीठिका का निर्माण करना होगा। इस पीठिका पर रखकर ही हम उनकी रचनाओं की साहित्य-विशेषताओं को आँक सकेंगे। तभी हमारा साहित्यिक इतिहास वास्तविक साहित्यिक भूमि पर स्थापित होगा और हम भिन्न-भिन्न साहित्यिक निर्माणों का यथार्थ स्वरूप समझ सकेंगे।

छायावादी काव्य मध्ययुग की काव्य-धारा से प्रमुखतः इस अर्थ में भिन्न है कि वह किसी क्रमागत साम्प्रदायिकता या साधन परिपाटी का अनुगमन नहीं करता। अध्यात्मवादी काव्य का अधिष्ठान देशकालातीत परम पवित्र सत्ता हुआ करती है। व्ययशील सांसारिक आदर्शों और स्थितियों आदि से उसका मुख्य सम्बन्ध नहीं होता। वह विकास, जो समय का आश्रित है; वह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञान, जो व्यक्त द्रव्य तथा उसकी परिणतियों पर अधिष्ठित है, मध्यकालीन आध्यात्मिक काव्य का विषय नहीं है। प्रत्यक्ष वस्तु का मानव-जीवन के सुख-दुःख, विकास-ह्रास आदि की अवस्थाओं से जो सम्बन्ध है, वह काव्य उसकी उपेक्षा कर गया है किन्तु आधुनिक छायावादी काव्य उसकी उपेक्षा नहीं करता। अध्यात्मवादी परम्परा दृश्यमात्र को विनाशी कहकर चुप हो रहती है, अथवा उसे अव्यावहारिक बताकर मुँह मोड़ लेती है। छायावादी काव्य में यह परम्परा स्वीकृत नहीं है। दैन्य से पीड़ित और प्रताड़ित तथा भोगैश्वर्य से प्रसक्त और परिवेष्टित व्यक्ति, समुदाय, देश, राष्ट्र या सृष्टि-चक्र के विभेदों में अध्यात्मवाद नहीं जा सका। समय और समाज को आन्दोलित करने वाली शक्तियों का आकलन उसमें कम ही है। वह तो उस शाश्वत सत्ता से ही सर्वथा संपृक्त है जिसमें परिवर्तन का नाम नहीं। उस सत्ता का स्वरूप सगुण है या निर्गुण, विश्वमय है या विश्वातीत, ये प्रश्न ही उस अध्यात्म में आते हैं। छायावाद की काव्य-सरणी इन अध्यात्मवादी सीमा-निर्देशों से आबद्ध नहीं है, वह भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करती।

आधुनिक छायावादी काव्य किसी क्रमागत अध्यात्म-पद्धति को लेकर नहीं चलता। नवीन जीवन-प्रगति में ही उसने आत्म-सौन्दर्य की झलक देखी है। परम्परित अध्यात्म प्रायः पुरुष से प्रकृति की ओर प्रवर्तित होता है—एक चेतन-केन्द्र से नाना चेतना-केन्द्रों को सृष्टि करता है; किन्तु छायावादी काव्य प्रकृति की चेतन सत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुष या आत्मा के अधिष्ठान में परिणत होता है। उसकी गति प्रकृति से पुरुष की ओर—दृश्य से भाव की ओर होती है। और इस दार्शनिक अनुभूति के अनुरूप काव्य-वस्तु का चयन करने में छायावादी कवियों ने प्रकृति के अपार क्षेत्र से यथेच्छ सामग्री ग्रहण की है।

प्रसाद जी, जो छायावादी काव्य के प्रवर्तक माने जाते हैं, अपनी आरम्भिक रचनाओं में प्रकृति की रमणीयता से आकृष्ट होकर उसके सौंदर्य-प्रभावों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को व्यक्त करते हैं। उनका आरम्भिक काव्य प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य की भूमि पर अधिष्ठित है। इस व्यक्त सौन्दर्य-वस्तु का प्रभाव कवि के काव्य में एक हल्की रहस्य-भावना की सृष्टि करता है। 'झरना' और 'आँसू' में यह सौंदर्य-सत्ता क्रमशः विकसित होकर कवि की भावना में और भी गहराई लाती है और कवि प्रेम-तत्त्व के निरूपण में संलग्न दिखाई देता है। 'लहर' के गीतों में मानव-जीवन के विविध पहलुओं के साथ जीवन-तत्व के समन्वय का प्रयत्न है। 'कामायनी' काव्य में जीवन की अनुभूतियाँ अपनी व्यापकता में प्रदर्शित हैं और उन सवका समाहार कवि के जीवन-दर्शन, आनन्दवाद में किया गया है। प्रसाद जी के काव्य के अभिनव भाव-विस्तार को देखते हुए मध्ययुग का धार्मिक और साम्प्रदायिक अध्यात्म-काव्य बहुत-कुछ सीमित और परतंत्र प्रतीत होता है।

केवल एक प्रासंगिक उदाहरण लेकर देखना ही हमारे लिए पर्याप्त होगा। सूरदास का राधा-कृष्ण सम्बन्धी शृङ्गारिक काव्य अपनी स्वाभाविक भाव-भूमि पर भी अत्यधिक विशद और आकर्षक है। वृन्दावन के प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच गोपियों के प्रेम का विकास एक आध्यात्मिक समारोह ही कहा जा सकता है; परन्तु एक सीमा तक ही यह सुन्दर पद्धति देखने को मिलती है। आगे चलकर गोपियों की मानलीला और कृष्ण द्वारा मानमोचन के प्रयत्नों का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह अपनी प्रकृत भूमि पर वैसा भावनामय नहीं हो पाया। प्रत्येक गोपी के घर बारी-बारी से जाकर उसकी अभिलाषा-पूर्ति का प्रयत्न जैसा वह सूरदास के काव्य में चित्रित है, आध्यात्मिक रूढ़ि के अनुकूल भले ही हो, काव्य की उदात्त भाव-व्यंजना में सहायक नहीं है। संभव है तत्कालीन काव्य-पद्धति में वैसे चित्रण अपवाद न माने जाते हों; पर आज वे चित्रण—संभोग शृङ्गार के वे दृश्य—सुरुचिपूर्ण नहीं कहे जा सकते। फिर भी मध्यकालीन धार्मिक काव्य की परिधि में उनका निर्माण हुआ है और बहुत-से भक्त उन्हें गाकर आज भी अलौकिक आनन्द उपलब्ध करते हैं। उनका यह आनन्द उक्त प्रसंग की रहस्यवादी धारणा के कारण है, या उन दृश्यों के यथातथ्य चित्रण में ही उनकी भावना रमती है—यह तो वे ही बता सकते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ हमें केवल इतना ही कहना है कि नवीन छायावादी काव्य-शैली में ऐसे चित्रणों के लिए, चाहे वे किसी वाद के अन्तर्गत हों, स्थान नहीं है।

सारांश यह कि हमारा नया काव्य अपनी स्वतंत्र दार्शनिकता के साथ ही अपनी भाव-भूमि और अनुभूति-क्षेत्र में भी पूर्ववर्ती काव्य से पृथक् सत्ता रखता है, जिसका यथार्थ परिचय हमें साहित्यिक विवेचना की उस स्वतंत्र परिपाटी का अभ्यास करने पर ही प्राप्त हो सकता है, जिसका संकेत ऊपर किया गया है। साहित्य-शैलियों का स्वतंत्र और कलात्मक अनुशीलन आज की साहित्य-मीमांसा के लिए आवश्यक है। आज छायावादी काव्य-शैली को स्थानान्तरित करती हुई नई शैलियाँ भी हिन्दी के क्षेत्र में अवतरित हो रही हैं। नए वादों का आगमन हो रहा है, नई भाषा-शैली प्रतिष्ठित हो चली है। इस समस्त परिवर्तन का साहित्यिक आकलन अपेक्षित है।

छायावाद की साहित्य-शैली में एक नई दिशा का आभास महादेवी जी के काव्य-क्षेत्र में प्रवेश करने पर प्राप्त हुआ है। उनका काव्य पूर्णतः रहस्योन्मुखी और ऐकान्तिक है। छायावाद की सामान्य काव्य-शैली से उनकी पृथक्ता स्वीकार करनी होगी। इसके पश्चात् बच्चन जी का नया काव्य-वाद हिन्दी के क्षेत्र में आया। इसी समय छायावादी काव्य-शैली के कतिपय अनुयायियों ने 'यथार्थयादी' काव्य-प्रयोग आरम्भ किए, जिनमें पन्त जी एक प्रमुख प्रयोक्ता थे। चित्रण-शैली और प्रेरणा-भूमि दोनों में पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा इनमें पर्याप्त अन्तर दिखाई दिया।

नया काव्य-प्रवर्तन आरम्भ हो चुका है; परन्तु शैली के रूप में उसकी नूतन प्रतिष्ठा होने में कुछ समय लगेगा। इस नवीन प्रवर्तन के मूल में नयी विचारणा, नयी चिन्तन-पद्धति और नवीन जीवन-दृष्टि ही नहीं है, नयी कला-शैली की भी सत्ता है। स्वभावतः यह नवीन निर्माण कल्पना प्रधान छायावादी काव्य-निर्माण की अपेक्षा अधिक 'यथार्थ' चित्रण-शैली का उपयोग कर रहा है; पर शैली का यह 'यथार्थ' अपने अन्तर्गत कितनी विभिन्न और दूरवर्ती भावना-सरणियों को आत्मसात् कर सकेगा, यह तो नवीन सांस्कृतिक विकास और भविष्य की सामाजिक प्रगति पर ही अवलम्बित है। अभी इसके सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मक मत व्यक्त नहीं किया जा सकता।

५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६ | अन्तर्नाद

श्री वियोगी हरि

प्रतीक्षा—

कब की खड़ी हूँ, प्रियतम ? पुकारते-पुकारते थक गई। जीभ में छाले पड़ गए। पर तुम न आए !

इस विजन वन में अकेली मैं ही हूँ। चारों ओर अँधेरा छा रहा है। तरङ्गिणी का कलकल-रव भी मन्द पड़ता जाता है। जान पड़ता है हवा भी अपनी अठखेलियाँ बन्द कर सोने जा रही है। सामने के काले भयावने गिरि-शिखरों की ओर तो आँख खोलकर देखा भी नहीं जाता। बड़ी सनसनाहट है। पेड़ों पर बसेरा लेने वाली चिड़ियों के परों की फड़फड़ाहट ही रुक-रुककर इस घोर सन्नाटे को चीरती है। इसी से थोड़ा-बहुत धीरज बँधा है। नाथ ! अञ्चल से ढँका हुआ यह निस्नेह दीपक कब तक टिमटिमाएगा ?

पैर काँप रहे हैं। हृदय धक-धक कर रहा है। पलकें भी भारी होती जाती हैं। शरीर पसीज उठा है। गला रुँध आया है। बड़ी घबड़ाहट मालूम होती है। क्या करूँ, क्या न करूँ ? न खड़ा ही रहा जाता है, न लौटते ही बनता है। लौटूँ भी, तो कहाँ, किस ओर ? अब न मेरा कहीं घर है, न द्वार। न सखी है, न सहेली। न सजन है, न परिजन। न कुल है, न कानि। फिर किधर जाऊँ, कहाँ रहूँ ? पूरब-पश्चिम का भी तो ज्ञान नहीं। नाथ ! तुम्हारे मन में आखिर है क्या ? यह देखो, दीपक भी बुझा चाहता है।

क्या यह शिला, जिस पर मैं खड़ी तुम्हारी बाट जोह रही हूँ, मोम की तो नहीं है ? यदि नहीं, तो पिघलती क्यों जाती है ? तारे क्यों रो रहे हैं ? कौन कहता है कि पत्तियों पर ओस की बूँदें झिलमिला रही हैं। यह तो इन्हीं तड़पते तारों के आँसू हैं। काली साड़ी पहने यह अँधेरी रात मुझ निराशा में डूबी अभागिनी का दुःख बटाने आई है। देखूँ, बेचारी कब तक साथ देती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्नेहमयी प्रकृति का हृदय सचमुच ही बड़ा कोमल है। यह इतनी दया न दिखाती तो मैं किसके आगे अपना रोना रोती ? पर तुम्हें तनिक दया न आई, कठोर-हृदय !

यह प्रतीक्षा है या परीक्षा ? प्रतीक्षा ही है, परीक्षा किस बात की होगी ? तुम अनन्त, तुम्हारी प्रतीक्षा भी अनन्त ! ठीक है न ? कुछ तो कहो। किससे बात कर रही हूँ ? क्या तुम सुनते हो ? यदि हाँ, तो अपनी मोहिनी झलक क्यों नहीं दिखाते, मोहन !

लो, दीपक गया ! आशा भी गई। अब दौड़ आओ प्रियतम ! देर करने से प्राण-पखेरू भी उड़ जायँगे, प्राणेश !

कालिन्दी-कूल

खड़े-खड़े आधी रात बीत गई। चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा छा रहा है। ऊपर काली घन-घटा है; नीचे कालिन्दी का श्याम प्रवाह ! कहीं कुछ सूझता तक नहीं। तारे भी नहीं झिलमिलाते। बड़ा विकट सन्नाटा है। रात साँय-साँय बोल रही है। कैसा भाँय-भाँय लगता है ! रह-रहकर यमुना की विक्षिप्त लहरें हृदय को और भी हिला देती हैं। बड़ा भयावना दृश्य है ! अकेली खड़ी-खड़ी क्या करूँ ?

सखी-सहेलियाँ छोड़कर क्यों यहाँ अकेली ही चली आई ? न जाने, मुझे यहाँ कौन खींच लाया ? खड़ी-खड़ी किसकी बाट जोह रही हूँ ? किस उलझन में पड़ी हूँ ? कुछ समझ में नहीं आता। कैसे धीरज धरूँ ! पैर थर-थर काँपते हैं। आँखें तिलमिला रही हैं। घड़ा व्यर्थ ही भरकर सिर पर लाद लिया अब गिरा ही चाहता है। कैसे सँभालूँ ?

दिया भी क्या बुझ जायगा ! इस तेज आँधी में अंचल की ओट में, कब तक ठहरेगा! कौन जानता है, कब बुझ जाय ! और तेल भी तो चुक गया है। क्या वश ? किसे मालूम था, कि मुझ अभागिनी के साथ ऐसी प्रवंचना की जायगी ? मैं तो वही समझकर दौड़ी थी कि कालिन्दी तट पर वह मर्मभरी रागिनी सुनने को मिलेगी, जिसने मेरे कल्पना-भवन में 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरलहरी प्रतिध्वनित की थी। पर सब धोखा ही निकला !—वेदान्तियों ने कदाचित् इसी अभितृष्णा को 'मृग-जाल' कहा है।

एक बार और वह उन्माद-आमोदिता रागिनी सुनी थी। उस दिन भी वह मुझ मुग्धा मृगी के अन्तस्तल में बाण-सी विंध गई थी। पर, तव इस तरह घर बार छोड़कर भागी नहीं थी। वहीं जी मसोस कर रह गई थी। आज की भाँति उस दिन दौड़ी नहीं। आज की दशा तो कुछ विचित्र ही हुई। घरवालों के रोकते-रोकते भी घड़ा ले इधर चल पड़ी। भला, यह भी कोई पानी भरने का समय है! सखी-सहेलियों की ओर देखा तक नहीं। करील की कँटीली डाली में वस्त्र उलझ जाने तक का तो ध्यान नहीं रहा। फूल-माला तो, न जाने कहाँ टूट-टाट कर गिर गई। आँखें अपनी होतीं तो कुछ देखतीं। सुध तो तन तक की न थीं; वस्त्राभूषण कौन सँभालता।

आखिर, वह रागिनी हुई क्या ? अलापनेवाला कहाँ गया ? कहाँ जाऊँ, किससे पूछूं ? सोचा था, कि उस रागिनी की धवल धारा से अन्तःकरण पखारूँगी, गायक को देखकर यह निस्तेज दृष्टि को सौन्दर्य-सुधा से अनुप्राणित करूँगी। पर वह कुछ न हुआ। सुना क्या-उत्कण्ठित हृदय की धीमी प्रकम्पन ध्वनि ! देखा क्या-अदृष्ट का धुँधला मानचित्र ! जान पड़ता है, यह विश्वव्यापी अंधकार मेरी ही निराशा का काल-प्रतिविम्व है। तो क्या वह मोहिनी रागिनी भी मेरे ही विक्षिप्त अन्तर्नाद की प्रतिध्वनि थी ? राम जाने क्या था ?

लो, दीपक भी गया ! रहा-सहा धीरज था, वह भी गया। अब देखूं, इस अनन्त शून्य-पट्ट पर रहस्य के अस्तित्व की क्षीण रेखा कव तक खचित रहती है !

अतिथि—

द्वार खोलो, अन्तर्यामिन् ! यह बेचारा, हाय ! कब से तुम्हारा द्वार खटखटा रहा है।

यह कोई पथिक है; और काले कोसों से दौड़ा आ रहा है। चलते-चलते पैर सूज गये हैं; तलुओं में छाले भी पड़ गये। न जाने, यहाँ तक कैसे पहुँचा ! देखते नहीं, बिलकुल शिथिल पड़ गया है ? बोलने तक की शक्ति नहीं। होंठों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर पपड़ी पड़ गई है। प्यास के मारे जीभ तालू से लग गई है। अरे कितना कृश है। कंकाल-मात्र शेष है। किसी प्रणय आशा ने ही इसे अब तक सप्राण रखा है। नाथ ! द्वार खोलो और इसकी सँभाल करो।

क्या कहा, कि किस काम से आया है ? केवल तुम्हारी झलक लेने-और कोई काम नहीं। बड़ा भोला है। कहता है, मैं अपने पैरों थोड़े ही आया। न जाने कौन यहाँ तक खींच लाया ! सुना है, कि रात इसने तुम्हारी प्यारी सूरत सपने में देखी थी। जागते ही बावला हो गया। एक फटा-पुराना कम्बल लपेटे तुम्हारी टोह में चल पड़ा। तुम लापता तो रहते ही हो। इससे बेचारा, न जाने कहाँ-कहाँ, खाक छानता मारा-मारा फिरा। इतने दिनों बाद आज कहीं इस भूले-भटके योगी को तुम्हारा पता चला है। सो द्वार खोलकर बाहर पधारो; प्राणाधार निठुर न बनो भक्तवत्सल !

टुक आओ तो। बैठना मत; एक ही झलक दिखाकर चले जाना। सकुचते हो क्या ? या डरते हो ? तुम्हें यह बाँध कर कैद थोड़े ही कर लेगा। सर्व शक्तिमान् होकर एक निर्बल का भी सामना नहीं कर सकते ! तुम्हारी पहेली तुम्हीं जानो। हम तो इतना ही कहते हैं कि द्वार खोल दो; पीछे जो तुम्हारे मन में हो करना।

इसे देखकर तुम्हें अवश्य ही तरस आ जायगा। इस निराश्रय का आज कहीं भी ठौर-ठिकाना नहीं। जो कुछ है, सो तुम्हारा द्वार। यहीं धूनी रमाकर डटेगा। यहाँ से टस से मस होने का नहीं। बड़ा हठीला है। इसे कह सकते हैं लगन पर मर मिटनेवाला। बड़ी-बड़ी अधमुँदी आँखों से स्नेह-रस छलका पड़ता है, पर तो भी बेचारी प्यास से छटपटा रही हैं। समुद्र में भी मछलियाँ प्यासी हैं। रह-रहकर यह मर्म-पीड़ा का अनुभव कर रहा है। पूछने पर जवाब यह मिलता है कि मेरा दर्द, दर्द नहीं-एक मीठी सी चुभीली कसक है। यही कसक उसे यहाँ तक खींच लाई है। इसी से वह उसे प्राणाधिक प्यारी है। मुबारक हो ऐसा दर्द !

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा अतिथि कदाचित् ही इस द्वार पर कभी आया हो। प्यारे, द्वार खोलकर इस मस्त पागल को इसी घड़ी दर्शन दो। ऐसे पाहुने नित्य तो आते नहीं। तुम्हें इसकी पहुनई भी, एक तरह से, बहुत महँगी न पड़ेगी। सिर्फ एक बार इसकी ओर मुसकरा भर देना। बस, मस्त हो झूमने लगेगा। सतृष्ण नेत्रों की तीव्र पिपासा तो उसी क्षण शांत हो जायगी। मुरझाया हुआ मुख एकदम खिल उठेगा। ओठों पर मुसकराहट की एक पतली रेखा खिच जायगी। तुम्हारी एक बार की चितवन से इस परिश्रांत पथिक का कायाकल्प हो जायगा। देखते-देखते रस-समुद्र उमड़ उठेगा। प्रेम-पर्व का क्या अच्छा सुयोग है! ऐसे आकस्मिक आतिथ्य से चूकना ठीक नहीं।

लो, द्वार खुला। इसके बाद क्या हुआ, कहने का अधिकार नहीं।

मुसकराहट

क्या कभी वह मुसकराहट भूलेगी? ज्योंही वह मुसकराया, समस्त प्रकृति पुलकित हो उठी। निस्तब्ध आकाश उद्वेलित हो गया। धीर समीर में प्रकम्प होने लगा। कुसुम की कोमल कलियों पर रोमांच हो आया। लताएँ थिरकने लगीं। पाटल की पँखड़ियाँ पसीज उठीं। कमल-कोश से रस छलकने लगा। भौंरें अस्फुट ध्वनि से गूंजने लगे। पक्षी इधर से उधर उड़-उड़कर चहकने लगे। अधिक क्या, माधुर्य मुकुलित हो उठा, विकास विकसित हो गया और लावण्य बार-बार उस मुस्कराहट के कोमल स्पर्श को चूमने लगा।

कितने नेत्रों ने उस सुधा से अपनी प्यास बुझाई! कितने हृदय-पटलों पर वह इन्द्रधनुष की-सी सस्मित रेखा खचित हो गई! कितनों के मन-मृग उस स्मिति-पाश में उलझकर फँस गये! ओह! क्या से क्या हो गया! उस मुसकाराहट में यदि बाँधने की शक्ति थी, तो साथ ही मुक्त करने की भी युक्ति थी। उसकी ओर देख-देखकर विष और अमृत ने कई बार प्रेमालिंगन किया था। वहाँ मृत्यु और जीवन का भी प्रत्यक्ष समन्वय देखने को मिला था।

चतुर चितेरे रंग और कूची ले-लेकर उसकी तसवीर खींचने आए, पर बेचारे खड़े देखते ही रह गए। उनकी आँखों ने उस तरल तरंगमाला में ऐसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उछल-कूद मचाई कि गरीबों से कुछ न करते बना। उलटे आप ही उधर खिच गये ! यही दशा शब्दवाटिका के मालियों की भी हुई। उनकी प्रतिभा उस ओर ऐसे खिच गई, जैसे लोहे को चुम्बक लपक लेता है। कुछ शब्द हृदय से बाहर निकलना चाहते थे, पर कण्ठ और मुख पर कड़ा पहरा बैठा था ! लेखनी कभी की पथरा गई थी। कहें तो क्या, और लिखें तो क्या ?

जब कभी मैं उस मधुर मुसकान का ध्यान करता हूँ तब, न जाने क्यों, निखरी हुई शरच्चन्द्रिका का स्मरण हो आता है, हिम-मण्डित धवल शिखरों पर खेलने को मन दौड़ जाता है और कुछ ऐसा जान पड़ता है जैसे मेरी अधखुली आँखें पलकों को कच्चे दूध से पखार रही हों। समझ पड़ता है, शान्ति, सरलता और विमलता उस मुसकान से ही प्रस्फुटित हुई है। विकास और प्रकाश उसी मुक्ति-नन्दिनी के सरस अधर पल्लव हैं।

उस मुसकान की झलक एक ही बार क्यों मिली ? वह अमृतमयी विद्युत्प्रभा एक ही बार चमक-दमक कर क्यों अनन्त अदृष्ट में लीन हो गई ? आँखों में, बाट देखते-देखते, झाईं पड़ गई। कलेजा आह के धुएँ से धुंधला हो गया। पर वह चिदानन्द विलासिनी मुस्कराहट आज तक सामने न आई ! न जाने, किस कोपभवन में मान ठाने बैठी है !

उसकी झलक, कौन नहीं लेना चाहता ? कितने तरसते नेत्र उस रूप की प्यास में तड़प रहे हैं ? रात तो नित्य ही अगणित आँखें फाड़-फाड़ उधर देखा करती है। यही दशा वृक्षों, पक्षियों और पशुओं की भी है। देखें, अब कब उस मुसकराहट का सुधा-रस चखने को मिलता है !

●●

पौराणिकतापूर्ण निबन्ध → [illegible]

ईश्वर के प्रति मन की लालसा, हृदय की [illegible]

फिर भी →

प्रकृति का [illegible] ही [illegible]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७ | साहित्य और साहित्यकार

श्रीमती महादेवी वर्मा

मनुष्य का विकास समस्याओं का विस्तार है, यह आज के युग में जितना सत्य है, उतना कदाचित् ही किसी अन्य युग में रहा हो।

विज्ञान एक ओर मनुष्य की भौतिक समस्याओं को हल करता है, दूसरी ओर उसकी मानसिक समस्याओं को जटिलतर बनाता चलता है। उसने मनुष्य की, हानि पहुँचाने वाली प्रवृत्ति को उसकी शक्ति का मापदंड बनाकर जीवन में एक चिन्तनीय स्थिति उत्पन्न कर दी है। आतंक के पंखों पर आने वाली ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ अपने वेग के कारण तुरन्त दृष्टि का केन्द्र बन जाती हैं; पर निर्मायक प्रवृत्तियों का अस्तित्व उनके निर्माण में ही व्यक्त हो सकता है। हम आँधी, वज्रपात के समय प्रकाश की ओर जितने उन्मुख होते हैं, उतने सुनहली धूप में नहाते समय नहीं। किसी ज्योतिःपिंड का टूटना, हमें जितना विचलित करता है, उतना अंकुर का धरती से फूटना नहीं। वैसे ज्योतिःपिंड के टूटने में सनातन ऋत नियम टूटता है, अंकुर फूटने में वह नियम अखंड रहता है। इसीसे आलोकित आकाश से धरती पर गिर कर ज्योतिःपिंड आलोकरहित शिलाखण्ड मात्र रह जाता है और अंकुर पल्लवित होकर धरती के अन्धकार से आकाश के आलोक की ओर बढ़ता है।

साहित्य मूलतः निर्माण है, व्यक्ति के लिए भी और समष्टि के लिए भी, अतः उसे सृजन के किसी विराट् ऋत की परिधि में चलने वाले एक जीवन-ऋत की ही संज्ञा दी जा सकती है। सृजन के अन्य महान् ऋतों के समान ही वह वरदान और अभिशाप का भागी है।

वरदान है कि मानव-जीवन की विकास-परम्परा को खंड-खंड बिना किये उसे खंडित नहीं किया जा सकता। अभिशाप है कि उसकी स्थिति में दूसरों की आस्था ही उसकी उपेक्षा का कारण बन जाती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज के विज्ञान-समृद्ध और राजनीति-अनुशासित युग में भी यदि किसी देश से कहा जावे कि उसे साहित्य के विना जीना चाहिए तो वह विस्मित भी होगा और रुष्ट भी। उसे यह सुझाव जीवन के निषेध जैसा भी लग सकता है और वर्बरता के लांछन जैसा भी। परन्तु यदि संसार के सब महान् साहित्यकार समवेत स्वर में घोषणा करें कि वे साहित्य-सृजन नहीं करेंगे, तो न कोई उनका विश्वास करेगा और न उन्हें इस निश्चय से विरत करने का प्रयत्न करेगा। इसके विपरीत यदि किसी अन्य क्षेत्र के व्यक्ति, चाहे वे वैज्ञानिक हों, चाहे श्रमिक, यदि अपने कार्य से विरत होने की घोषणा करें, तो उन्हें रोक सकने के लिए दंड और पुरस्कार दोनों के विविध उपयोग किये जायँगे।

इस प्रत्यक्षतः उपेक्षित स्थिति के मूल में साहित्य के प्रति कोई अटूट आस्था नहीं है, यह मान लेना उचित न होगा।

हम रात भर सूर्य से लौटने के लिए प्रार्थना नहीं करते। हम ग्रीष्म की दोपहरियों में समुद्र तट पर वैठकर उससे बादल भेजने के लिए निहोरा नहीं करते। हम साँस के लिए पवन के पास दूत नहीं भेजते; पर क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि हमें उनकी निरन्तर उपलब्धि में अखंड विश्वास है। साहित्य का प्रश्न भी वहुत कुछ ऐसा ही है। साहित्य की स्थिति में आस्था रखने के कारण ही हम उसके स्रष्टा के अस्तित्व के विषय में आश्वस्त रहते हैं। साहित्य हमारे निकट जीवन की गम्भीर अभिव्यक्ति है, उसका अलंकार मात्र नहीं, अतः उसकी प्राप्ति की दिशा में हमारे सावधान प्रयत्न मात्र पर्याप्त नहीं होते।

पर इस आस्था ने साहित्यकार के जीवन के सभी प्रश्नों को दोहरे समाधानों से बाँध दिया है। उसकी महानता और लघुता की कसौटी समाधानों के चुनाव में है। वह व्यक्ति भी है और संस्था भी। व्यक्ति किसी निर्माण को समग्रता में न देखते हुए भी श्रम कर सकता है; परन्तु संस्था को तो समग्रता में ही निर्माण करना होता है।

व्यक्ति यदि जीवन के किसी अंश का मूल्यांकन है, तो संस्था अनेक मूल्यांकनों का मूल्यांकन कही जायगी। साहित्यकार यदि व्यक्तिगत सीमाओं को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वथा भुला दे, तो वह भीड़ का अंग मात्र रह जाता है और यदि वह समष्टि का विस्तार भूल जावे, तो एकाकी रह जाता है। इसीसे जीवन के सरल प्रश्न भी उसकी सीमा में आते ही जटिल हो जाते हैं तो आश्चर्य की बात नहीं।

साहित्य-सृजन केवल रुचि, इच्छा या विवशता का परिणाम नहीं है, क्योंकि उसके लिये एक विशेष प्रतिभा और उसे सम्भव करने वाले मानसिक गठन की आवश्यकता होती है।

किसी अनिवार्य विवशता, किसी सर्वथा प्रतिकूल परिस्थिति में यह प्रतिभा कुंठित हो सकती है, यह मानसिक गठन विघटित हो सकता है; परन्तु केवल स्ववशता और अनुकूल परिस्थिति मानसिक गठन का निर्माण कर इस प्रतिभा का सृजन करने में समर्थ नहीं होती। इसी से हम महान् प्रतिभाओं को इच्छानुसार बाजीगर के चमत्कार के समान प्रत्यक्ष और तिरोहित नहीं कर पाते।

मनुष्य अपनी रागात्मक व्याप्ति के बिना समष्टि में पहचाना नहीं जा सकता। वह अपने बौद्धिक विस्तार के बिना माना नहीं जा सकता और इस व्याप्ति और विस्तार के मूल्यांकन के अभाव में मानव जाति की प्रगति का लेखा-जोखा अमिट नहीं रह सकता। नदी जिस प्रकार दोनों तटों को अलग-अलग स्पर्श करके भी अपनी एकता में एक रखती है, उसी प्रकार साहित्य भी जीवन की भिन्न जान पड़ने वाली वृत्तियों को अपने स्पर्श की एकता में एक रखता है।

वह बहुमुखी दायित्व देने वाला ऐसा रागात्मक कर्म है जिसके कारण साहित्यकार की स्थिति को एक कोण से देखना कठिन हो जाता है।

उसका सृजन न केवल श्रम है और न आजीविका के लिए स्वीकृत कोई पेशा या व्यापार मात्र। न वह व्यक्ति का निरानन्द आत्मदान है और न समाज से औपचारिक आदान।

केवल श्रमिक की स्थिति स्वीकार कर लेने पर मूल्य की माँग मात्र उसके हाथ रहती है। श्रम का प्रकार दूसरे की इच्छा और आवश्यकता पर निर्भर हो जाता है। श्रम लेने वाले और देने वाले की स्थिति का व्यावहारिक आधार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चित और स्पष्ट होने के कारण श्रम और मूल्य के अनुपात संबंधी प्रश्नों को सुलझाना कठिन नहीं हो सकता।

यदि साहित्य को आजीविका की दृष्टि से स्वीकृत कोई एक व्यापार मान लिया जावे, तो न व्यक्ति की प्रतिभा विशेष के लिए मुक्त क्षितिज मिल सकता है और न उक्त कर्म से उसके अविच्छिन्न लगाव को उचित कहा जा सकता है।

यदि उसमें एक व्यापार के लिए आवश्यक कुशलता का अभाव है, तो दूसरे क्षेत्र से अपनी पटुता की परीक्षा उसके लिए अनिवार्य हो जायगी।

साहित्य को समाज के प्रति व्यक्ति का निरानन्द दान या समाज का व्यक्ति को बलात् सौंपा हुआ कर्म मान लेने पर वह विवशता का पर्याय हो जाता है और हर विवशता के लिए मनुष्य के मनोजगत् में विद्रोह ही स्वाभाविक है।

वस्तुतः साहित्य की समस्याएँ जीवन की समस्याओं के समान एक परिधि में एक दूसरे की कड़ी बनकर घूमती हैं। इनका एक छोर पकड़ने का प्रयास, वृत्त का छोर खोजने के समान स्पर्श से निकट; पर दृष्टि से दूर रहता है।

साहित्यकार क्यों लिखता है, वह अपनी तृप्ति के लिए लिखता है अथवा समष्टि के सन्तोष के लिए। साहित्य-सृजन साहित्यकार का स्वेच्छा से किया आत्मदान है अथवा समाज की माँग की पूर्ति मात्र।

साहित्य-सृजन अपने सृष्टा के लिये जीवन है या जीवन-यापन का साधन मात्र। साहित्य युग-सापेक्ष है या निरपेक्ष। साहित्य के प्रेय और श्रेय की परीक्षा किसे दृष्टि में रख कर की जावे, आदि-आदि प्रश्न ऐसे हैं, जिनके समाधान जीवन की समग्रता में ही प्राप्त हो सकते हैं, उसे अंशतः देखने में नहीं।

प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में साहित्य की उत्कृष्टता की कसौटी उसकी व्यापकता ही मानी गई है और यह व्यापकता स्वयं व्यक्तिगत रुचि का निषेध है।

मनुष्य एक विशेष सामाजिक परिवेश में उत्पन्न होता है और कुछ संस्कार उसे अपने परिवेश से उत्तराधिकार में प्राप्त होते हैं और कुछ उसके व्यक्तिगत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मधुर-कटु, अनुभवों से बनते हैं। उसके कुछ व्यक्तिगत स्वार्थ होते हैं और कुछ समष्टिगत दायित्व, जिन्हें वह सामाजिक प्राणी के नाते स्वीकार करता है। व्यक्तिगत स्वार्थ और समष्टिगत स्वार्थों में संघर्ष की सम्भावना जिस सीमा तक कम होती जाती है, उसी सीमा तक हम किसी समाज को और उसके सदस्यों को संस्कृत कहते हैं।

मनुष्य की महानता उसके दायित्व की विशालता का पर्याय है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति का स्वार्थ समाज विशेष के स्वार्थ में ही लय नहीं हो जाता, वरन् समष्टि के स्वार्थ या हित से एकाकार हो जाता है।

मनुष्य केवल प्राण-संवेदनयुक्त जीव ही नहीं है, वह असंख्य मानसिक संभावनाओं और संवेदन के विविध स्तरों का संघात है। बुद्धि की सचेतन प्रक्रिया और अन्तःकरण की वृत्तियों में सामञ्जस्य लाने का सचेतन प्रयास और उससे आनन्द की अनुभूति उसकी अपनी विशेषता है, जो उसे शेष सृष्टि से भिन्न कर देती है। केवल शारीरिक यात्रा के साधन और आत्मरक्षण की सहज चेतना उसमें अन्य प्राण-संवेदनयुक्त जीवों के समान होना स्वाभाविक है। परन्तु अपनी सामान्य स्थिति से असन्तोष, अज्ञात स्थिति विषयक जिज्ञासा, अनुभूत तथ्यों के आधार पर सर्वथा अननुभूत सत्यों तक पहुँचने का प्रयास, प्रयास में आनन्दमयी स्थिति की परिकल्पना और अप्राप्त लक्ष्य में आस्था आदि विशेषताओं के कारण ही वह विशिष्ट है। अपनी इस विकासनिष्ठ क्रिया को अबाध रखने के लिए वह अपने बौद्धिक और मानसिक स्तरों का संगठन और संशोधन नए-नए प्रकारों से करता आ रहा है। अपने सहज प्राप्त परिवेश से ही संचालित न होकर वह उस पर अपने अन्तर्जगत् को भी प्रतिफलित करता चलता है; इस प्रकार उसकी गति से भौतिक विश्व की एक मानसिक सृष्टि भी होती आ रही है।

दर्शन, धर्म, विज्ञान, कला, साहित्य सभी ने जीवन के इस दोहरे विकास में योग दिया है। पर मनुष्य की व्यक्ति और समष्टिनिष्ठ तथा बुद्धि और भावनिष्ठ अभिव्यक्तियाँ, साहित्य की अधिक ऋणी हैं। जीवन को समग्रता से स्पर्श करने के कारण और बुद्धि तथा अन्तःकरण की विभिन्न वृत्तियों को संश्लिष्ट करने की क्षमता के कारण साहित्य सहज ही मनुष्य के रहस्य का उद्गीथ बन गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तो सर्व स्वीकृत है कि साहित्य-सृजन का कार्य विशेष व्यक्ति कर पाते हैं जिन्हें उनके परिवेश तथा बुद्धि, अन्तःकरण की वृत्तियों ने उपयुक्त साधनों से सम्पन्न कर दिया है। वे न अमानव हैं, और न अतिमानव, प्रत्युत् विकास के ऐसे बिन्दु पर सामान्य मानव हैं कि जीवन और परिवेश में अव्यक्त हलचल भी उनकी अनुभूति में व्यक्त हो जाती है। साहित्य को चाहे किसी ने जीवन का अनुकरण माना हो, चाहे कल्पनासृष्टि, चाहे जीवन-नीति का संचालक कहा हो, चाहे सौन्दर्य बोध मात्र परन्तु उसके सृष्टा की विशिष्ट प्रतिमा को सभी ने स्वीकार किया। अभ्यास मात्र से उत्कृष्ट साहित्य-सृजन सम्भव है, यह आज का वैज्ञानिक युग भी स्वीकार नहीं करता, अन्य अतीत युगों की चर्चा ही व्यर्थ है।

ऐसी स्थिति में साहित्य को व्यक्तिगत रुचि मात्र मान लेना, उसके युगान्तरव्यापी प्रभाव को अस्वीकार करना है।

साहित्य विशेष व्यक्तित्व का परिणाम है, इसी अर्थ में उसे व्यक्तिगत कहा जा सकता है; पर इस अर्थ में मानसिक ही नहीं, भौतिक विकास भी वस्तुनिष्ठ रहेगा। विकास के रहस्यमय क्रम में एक वस्तु विकसित होकर विकसित करती है, इसी प्रकार विकास की परम्परा अबाध चलती हुई विकास का मानदंड निर्मित करती है।

अपने सृजन से साहित्यकार स्वयं भी बनता है, क्योंकि उसमें नए संवेदन जन्म लेते हैं, नया सौन्दर्य बोध उदय होता है और नए जीवन-दर्शन की उपलब्धि होती है। सारांश यह है कि वह जीवन की दृष्टि से समृद्ध होता जाता है, इसी से साहित्य-सृष्टि का लक्ष्य स्वान्तःसुखाय का विरोधी नहीं हो सकता। पर यह क्रिया अपने कर्त्ता को बनाने के साथ उसके परिवेश को भी बनाती चलती है, क्योंकि समष्टि में इन्हीं नवीन संवेदनों, सौन्दर्यबोधों और विश्वासों का स्फुरण होता रहता है।

फूल का विकास अपनी ही रूप-रंग-रसमयता नहीं है, क्योंकि वह अपनी मिट्टी और परिवेश की शक्तियों का संयोजन और संवर्द्धन भी करता है। पौधा मिट्टी, धूप, पानी आदि नहीं बनता; परन्तु इनकी सम्मिलित शक्तियों का रसायन ग्रहणकर स्वयं बनता और उसे व्यक्त करने के लिए अपने परिवेश को बनाता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। मूर्तिकार न पाषाण बनाता है न छेनी का लोहा। वह केवल प्राकृतिक उपादानों और उनकी शक्तियों को संयोजित कर अपनी मानसी सृष्टि को प्रत्यक्ष कर स्वयं संतोष पाता और समष्टिगत परिवेश का संवर्द्धन करता है। संगीतकार भी स्वरों का और तारों की धातु का सृजन नहीं करता। चित्रकार भी प्रकृति में बिखरे रंग और रेखाओं का सृजन नहीं करता। नृत्यकार भी गति का सृजन नहीं करता।

शिल्पी पाषाण में अव्यक्त आकारों को व्यक्त आकार देकर, चित्रकार प्रत्यक्ष रंग-रेखाओं के संयोजन में किसी अन्तर्निहित सामञ्जस्य को अवतार देकर और नृत्यकार व्यापक गति को जीवन की विविध चेष्टाओं में छन्दायित कर जो सृजन करता है, वह व्यक्ति-सीमित नहीं हो सकता, क्योंकि न माध्यम व्यक्तिनिष्ठ है और न बौद्धिक प्रक्रियाएँ और न मानसिक वृत्तियाँ केवल उसकी हैं। इसी से मनुष्य की अव्यक्त संभावनाएँ और संवेदन किसी न किसी बिन्दु पर सब के हो जाते हैं और सब के हो जाने में ही उनकी कृतार्थता है।

व्यक्ति से जिस सत्तागत अभिव्यक्ति अथवा अस्तित्वगत विशेषता का बोध होता है, वह भौतिक जगत् में अधिक है, पर ज्यों-ज्यों हम उसके भीतर प्रवेश करते हैं, त्यों-त्यों ये कठिन रेखाएँ गल-गल कर तरल होने लगती हैं। दो पत्ते भी समान नहीं हैं; पर दो मनुष्य आकार में भिन्न होकर भी संवेदन के स्तर पर समान हो सकते हैं।

इस मूलगत एकता के कारण ही साहित्यिक उपलब्धियाँ कालान्तर-व्यापिनी हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में उसके सृष्टा मात्र ही उसके उपभोक्ता कैसे माने जा सकते हैं? जीवन के परिष्कार और परिवर्तन के हर अध्याय में साहित्य के चिह्न हैं, अतः उसे व्यापक सामाजिक कर्म न कहना अन्याय होगा। पर, जब हम उसे सामाजिक कर्म मान लेते हैं, तब यह समस्या मानसिक क्षेत्र से उतर कर सामाजिक धरती पर प्रतिष्ठित हो जाती है और उसका समाधान भी नये रूप में उपस्थित होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि सामाजिक कर्म व्यक्ति का समष्टि को दान है, तो वह दान देने वाले और पाने वाले के मानसिक तथा भौतिक परिवेश के अनुसार ही कम या अधिक महत्त्व पाता है और ये दोनों परिवेश कभी-कभी एक दूसरे से इतने भिन्न जान पड़ते हैं कि देने वाले तथा पाने वाले में कोई सम्बन्ध खोज लेना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में ही साहित्य रुचि विशेष की भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है।

यह स्वीकार कर लेने पर कि साहित्य-सृजन व्यक्तिगत रुचिमात्र न होकर महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्म है, साहित्यकार की समस्या सामाजिक प्राणी की, और विशेष कार्यक्षम सामाजिक सदस्य की समस्या हो जाती है। समाज केवल भीड़ का पर्याय नहीं होता। समानाः अजन्ति समान संचरण शील व्यक्ति ही समाज है। इन व्यक्तियों में, व्यष्टिगत स्वार्थ की समष्टिगत रक्षा के लिए अपने विषम आचरण में साम्य उत्पन्न करने वाले समझौते की स्थिति अनिवार्य रहेगी। व्यक्ति और व्यक्ति के स्वार्थों में संघर्ष की संभावना ज्यों-ज्यों घटती जाती है, त्यों-त्यों व्यक्ति का परिवेश समष्टि के परिवेश तक फैलता जाता है और पूर्ण विकसित समाज में व्यक्ति के सीमित परिवेश की कल्पना ही कठिन हो जाती है। मनुष्य अपनी क्रियाशीलता को समाज को सौंप देता है और इस समर्पण से वह स्वयं एक विशाल और निरन्तर सृजन का अंशभूत हो जाता है। पर स्वस्थ समाज में व्यक्ति की क्रियाशक्ति की स्वाभाविक परिणति जीवन के विकास की सुविधा ही रहती है। जब ऐसा तारतम्य नहीं रहता, तब ऐसी विच्छिन्न क्रिया कभी विद्रोह का पर्याय मानी जाती है, कभी अपराध की संज्ञा पाती है।

स्वयं को शासित रखने के लिए समाज एक लिखित विधि-निषेधमय विधान रखता अवश्य है; पर वह संचालित ऐसे अलिखित विधान से होता है, जो परम्परा, रुचि, आस्था, संस्कार, मनोविकार आदि का संश्लिष्ट योगदान है।

पूर्ण से पूर्ण समाज भी व्यक्ति के जीवन को सब ओर से नहीं घेर सकता, क्योंकि मानव-स्वभाव का बहुत-सा अंश समाज की सीमा-रेखा के बाहर मुक्त और उसकी दृष्टि से ओझल रहता है।

मनुष्य के जीवन का जितना अंश नीति, शिक्षा, आचार आदि सामाजिक संस्थाओं के सम्पर्क में आता है, उतना ही समाज द्वारा शासित माना जायगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान तिथि:....... पु०सं०.......

समाज यदि मनुष्यों के समूह का नाम नहीं है, तो मनुष्य भी केवल क्रियाओं का संघात नहीं है, दोनों के पीछे सामूहिक और व्यक्तिगत इच्छा, हर्ष और विषाद की प्रेरणा रहती है। आचरण को सेना के समान कवायद सिखा देना ही जीवन नहीं है, वरन् कर्म को प्रेरित करने वाले मनोविकारों के उद्गम खोजकर उनमें विकास की अनुकूलता पा लेना जीवन का लक्ष्य है।

साहित्य का उद्देश्य समाज के अनुशासन के बाहर स्वच्छन्द मानव-स्वभाव में, उसकी मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए, समाज के लिए अनुकूलता उत्पन्न करना है।

एक ओर वह विधि-निषेध से बाहर उड़ने वाले मानव मन को समष्टि से बाँध कर उसकी निरुद्देश्य उड़ान को थाम लेता है और दूसरी ओर समाज की दृष्टि से ओझल मानव-स्वभाव की विविधताओं को उसके सामने प्रस्तुत कर सामाजिक मूल्यांकन को समृद्ध करता है। इस प्रकार निर्वन्ध कुछ वँध जाता है और बद्ध के बन्धन कुछ शिथिल हो जाते हैं।

मनुष्य को अपने लिए विशेष वातावरण ढूंढ़ने नहीं जाना पड़ता। वह एक विशेष परिवेश में जन्म लेकर वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक संस्थाओं से परिचित और अनुशासित होता चलता है। जैसे उसे साँस के लिए वायु अनायास मिल जाती है, उसी प्रकार समाज का दान भी अयाचित और अनजाने ही उसे प्राप्त हो जाता है। जब तक वह अपने आपको जानने की स्थिति में पहुँचता है, तब तक समाज उसे एक साँचे में ढाल चुकता है; परन्तु यदि मनुष्य अपने इसी निर्माण पर सन्तुष्ट हो सके, तो उसमें और जड़ में अन्तर ही क्या रहेगा? वह दर्जी के सिले कपड़ों के समान समाज के विधि-निषेध को धारण कर लेता है और तब उनके तंग या ढीले होने पर, सुन्दर या कुरूप होने पर संतुष्ट-असन्तुष्ट होता है।

यह सन्तोष-असन्तोष समाज के शासन की परिधि में नहीं आता; पर साहित्य इसी का मूल्यांकन करता है। दूसरे शब्दों में समाज के दान की जहाँ इति है, साहित्य का अर्थ उसी बिन्दु से चलता है।

अतः साहित्यकार का सामाजिक कर्म अन्य कर्मों को तोलने वाले तुला और बाँटों से नहीं तुल सकता। अन्य क्षेत्रों में समाज अपने सदस्यों की क्रियाशक्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अपने आधीन कर उनकी प्रतिभा और कुशलता के अनुसार उनका कार्य निश्चित कर देता है और उसके प्रतिदान में उन्हें जीवन-यात्रा की सुविधायें देता है। दोनों पक्षों का आदान-प्रदान इतने स्थूल धरातल पर स्थित है कि उसकी उपयोगिता के विषय में किसी सन्देह का अवकाश कम रहता है।

भारी पैनी तलवार गढ़ने वाले लोहार के कार्य का महत्त्व भी समाज जानता है और हल्की अँगूठी में रत्नों की बारीक जड़ाई करने वाले स्वर्णकार की कुशलता का मूल्य भी उससे छिपा नहीं है। कष्टलभ्य वस्तुओं का क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारी की प्रत्यक्ष योग्यता का भी उसे ज्ञान है और मन्दिर में मौन जप करने वाले पुजारी की अप्रत्यक्ष रचना में भी उसका विश्वास है। न्यायासन पर दंड-पुरस्कार का वितरण करनेवाले न्यायाचार्य के कार्य के विषय में उसे सन्देह नहीं है और समाज की नई पीढ़ी को परम्परानुसार शान्त-दान्त बनाने में लगे शिक्षाशास्त्री के कार्य का भी उसके पास लेखा-जोखा है।

इन विविध कर्त्तव्यों को, उसने अधिकारी व्यक्तियों को स्वयं सौंपा है और इन कर्त्तव्यों के विषय में एक परम्परागत शास्त्र भी निश्चित है। वे कैसे करते हैं यह दूसरा प्रश्न है; परन्तु वे क्या करें और क्या न करें के विषय में द्विविधा नहीं है। कठिन दंड के पात्र को दंड कम मिले, या न मिले यह मतभेद का विषय हो सकता है; परन्तु दंड-पुरस्कार-विधान समाज-स्वीकृत है और न्याय का कार्य समाज द्वारा किसी को सौंपा गया है। हर सामाजिक संस्था समाज का अंग है और वह मनुष्य-जीवन के उन्हीं अंशों से सम्बद्ध रहती है, जिन पर समाज की सत्ता है। मानव-स्वभाव का जो अंश समाज के विधि-निषेध की परिधि के बाहर अस्तित्व रखता है, उसके लिए सामाजिक संस्था नहीं बनाई जा सकती; पर उस तक समाज के सुख-दुखों की अनुभूति पहुँचाकर उसे समाजोन्मुख किया जा सकता है। पर यह कार्य व्यक्ति करता है, जिसे समाज के सौन्दर्य और विरूपता, सुख और दुःख की व्यष्टिगत; पर तीव्र अनुभूति होती है। समाज अपने अन्य क्षेत्रों के समान इसके हाथ में कोई विधि-निषेध शास्त्र देकर नहीं कह सकता मैं तुम्हें कवि, नाटककार आदि के कर्त्तव्य पर नियुक्त करता हूँ, तुम मेरे विधान के स्थायित्व के लिए कार्य करो।

६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः समाज किसी साहित्यकार के अन्तर्जगत् की हलचल से परिचित तब होता है, जब वह अभिव्यक्ति पा लेती है। इस अभिव्यक्ति से पहले अनुभावक शक्तियों से और उसकी अनुभूति की तीव्रता से समाज अपरिचित रहता है और यह अपरिचय एक सीमा तक व्यक्ति और समाज को विरोधी पक्षों में भी खड़ा कर सकता है।

साहित्य समाज की अपराजेय शक्ति है; पर क्या उसी तरह निर्झर, पर्वत की अपराजेय शक्ति नहीं है? क्या पर्वत की शक्ति होने के कारण उसे उसकी कठोर शिलाओं से संघर्ष नहीं करना पड़ता? पर्वत से सर्वथा अनुकूल स्थिति रखने के लिए तो प्रपात को जमकर शिलायित होना पड़ेगा। सन्तान का जन्म माता की पीड़ा का भी जन्म है। इसी प्रकार साहित्य भी, समाज में, समाज के लिए निर्मित होकर भी उसमें कोई उद्वेलन, कोई असन्तोष उत्पन्न करता ही है। ऐसी स्थिति में समाज, साहित्य को सामाजिक और श्रेष्ठ सामाजिक कर्म के रूप में स्वीकार न करे, तो आश्चर्य नहीं। जिस युग में समाज की दवी हलचलें उसके अन्य क्षेत्रों में भी कुछ असन्तोष उत्पन्न करने लगती हैं, उसमें साहित्य सहज ही नेतृत्व प्राप्त कर लेता है; पर जिन युगों में समाज के अवचेतन मन पर जड़ता का स्तर कठिन हो जाता है, उनमें साहित्य को अकेले जूझना पड़ता है।

परन्तु साहित्य चाहे जिस भूमिका में उपस्थित हो, वह मानव जाति का, विकास के समान ही अविच्छिन्न साथी रहता है। प्रत्यक्ष वस्तु सत्य से अप्रत्यक्ष सम्भाव्य सत्य तक उसकी सीमाएँ इस प्रकार फैली रहती हैं कि मनुष्य उसे अपने अतीत विकास का प्रमाण भी मानता है, वर्तमान का मापदंड भी और अनागत भविष्य का संकेतधर भी। सभी देशों में साहित्य का सृजन विशेष प्रतिभा से सम्बद्ध है, और विशेष-प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार का विशेष महत्त्व भी सर्व-स्वीकृत है। आज तक प्रतिभा को समान रूप से बाँटने का उपाय विज्ञान को उपलब्ध नहीं हो सका है, अतः साम्योपासक देशों में भी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकारों को असामान्य स्थिति प्राप्त है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः साहित्य-सृजन समग्र जीवन, समस्त शक्तियों का संश्लिष्ट दान है। जीवन में कुछ कार्य जीवन-निर्वाह के साधन मात्र हैं, कुछ जीवन के साध्य हैं और कुछ साधन-साध्य दोनों का एकीकरण हैं। केवल वाह्य जीवन में सीमित क्रिया साधन हो सकती है, केवल अन्तर्जगत् में मुक्त साध्य हो सकती हैं; परन्तु अन्तर्जगत् की प्रक्रिया का वाह्य रसात्मक अवतरण साधन और साध्य को एकाकार कर सकता है। यह ऐसा दान है, जिसे देकर भी हम पाते हैं। यह ऐसा स्वार्थ है, जिसे पास रख कर भी हम देते हैं। पर इस दोहरी स्थिति के कारण ही साहित्यकार के जीवन के साधन और साध्य कुछ रहस्यमय हो जाते हैं। इस स्थिति को समझने के लिए ऐसे संस्कृत समाज की आवश्यकता रहती है, जो अपने दिये मूल्य को अधिक न समझे और उससे प्राप्त सृजन को न्यून न माने।

साहित्य की दृष्टि से हमारा देश इतना अधिक समृद्ध है कि उसकी मूल्यांकन-शक्ति के विषय में सन्देह कठिन हो जाता है। जीवन के विविध क्षेत्रों में विशेष उपलब्धियाँ सुलभ करने वालों की जीवन-यात्रा के साधन उसने इस सहज भाव से दिये कि उसके मन में अहंकार का कोई संस्कार नहीं बन सका। व्यक्ति के विशिष्ट सृजन को उसने इतना महत्त्वपूर्ण और महार्घ माना कि स्रष्टा को याचक का दैन्य कभी स्पर्श नहीं कर सका।

इस स्थिति ने विषम युगों में समस्याएँ भी उत्पन्न कीं; पर साधारणतः समाज और साहित्यकार में खरीदने और बेचने वालों की आपाधापी के लिए अवकाश कम रहा। आज भी लोक-जीवन और उसके साहित्यकारों की ऐसी स्थिति है, जिसमें एक अहंकार से शून्य है और दूसरा दैन्य से अपरिचित।

जिन युगों में हमारा सांस्कृतिक ह्रास अपनी चरम स्थिति में था उनमें भी 'माँग के खैबो मसीद को सोइबो' कहने वाले साहित्य-साधक समाज के गुरु और शास्ता रहे।

उनकी जीवन-यात्रा की व्यवस्था करने वाले लोक के अवचेतन मन में भी कभी यह प्रश्न नहीं उठा कि जीवन-यात्रा के लिए हमारे आश्रित होकर भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये हमारे शास्ता होने का अहंकार क्यों करते हैं। जिन साहित्यकारों ने लोक की अवज्ञा कर व्यक्ति का आश्रय लिया, उनकी स्थिति की मर्यादा भी इसी परम्परागत संस्कार ने बाँधी। जिस प्रकार घर के छोटे झरोखे से थोड़ा प्रकाश पाने वाला भी प्रकाश की असीमता की अवज्ञा नहीं कर सकता, उसी प्रकार संकीर्ण सीमा में निर्मित साहित्य ने भी विराट् मानवता में फैले साहित्य से अपने सम्बन्ध का परिचय देकर अपने रचयिता को क्षुद्र होने से बचाया। नदी तट बनाती है; पर तटों के साथ तो वह समुद्र में स्थिति नहीं रख सकती और यही मुक्ति उसके बन्धन को क्षुद्र नहीं होने देती।

आज हम विशेष युग में हैं और संस्कार के नाम पर हमें परम्परा के परिणाम से संघर्ष करना पड़ रहा है। जुआ उतार कर फेंका जा सकता है; पर जुआ वहन करने के परिणाम या प्रमाण जो गर्दन के क्षत या काठिन्य में अंकित हो जाते हैं, उन्हें काटकर फेंक देना सम्भव नहीं रहता। उस कठोर या आहत स्थान को स्वाभाविक स्थिति में लाने के लिए समय और उपचार दोनों अपेक्षित रहते हैं।

काठिन्य, भार के अति सह्य होने का प्रमाण या स्वाभाविक संवेदनशीलता के न्यून होने की सूचना है, जिसकी उपस्थिति में भार उतारना व्यर्थ जान पड़ता है। क्षत, संवेदनशीलता में अस्वाभाविक वृद्धि है, जिसके कारण स्वाभाविक सहनशक्ति नष्ट होकर तन्तुओं को अक्षम बना देती है।

हमारे जीवन की स्थिति भी बहुत कुछ ऐसी ही है। कहीं हम रूढ़ियों के अम्बार लाद कर भी भार का अनुभव नहीं करते और कहीं हमारे लिए संस्कार का हल्का स्पर्श तक असह्य हो जाता है। दोनों ही स्थितियाँ अस्वाभाविक हैं।

हमारी स्वतन्त्रता के सात वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। उसे हम अपने राष्ट्र-जीवन का तुतला उपक्रम मात्र नहीं कह सकते। किसी अन्य अतीत युग में कहना सम्भव था; परन्तु आज जब समय बैलगाड़ी, रथ छोड़कर वायुयान पर उड़ने लगा है, एक केन्द्र में मुखर होकर संसार भर से बोलने लगा है, एक क्षण को छूकर इतिहास के असंख्य पृष्ठ लिखने लगा है, तब हमें अपनी समय संबंधी धारणाएँ भी बदलना चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धरती, समुद्र, पर्वत, नक्षत्र तक जब परिवर्तन के अंक बनते जा रहे हैं, तब 'उत्पस्यते हि मम कोपि समानधर्मा' कहकर अनन्त प्रतीक्षा की समस्या नहीं रह गई है। लक्ष्य की दिशा में उठाया पग और लक्ष्य प्राप्ति आज इतने निकट और एक दूसरे के पर्याय हैं कि मार्ग खोजने, भटकने, पाने की अनेक स्थितियों का एक हो जाना स्वाभाविक है।

इस भूमिका में जब हम अपने साहित्य और उसके सृष्टाओं को रख कर देखते हैं, तब साहित्य के भविष्य के लिए चिन्ता स्वाभाविक हो जाती है। कुछ प्रतिष्ठित वयोवृद्ध, अतः सरकारी पदों के लिए अनुपयुक्त तथा कुछ अति साधारण, अतः सरकारी कार्यों के लिए अयोग्य लेखकों को छोड़कर प्रायः सभी लेखक सरकारी विभाग में आश्रय पा गये हैं। उनके जीवन-यापन की समस्या अवश्य ही सुलझ गई है; परन्तु सुलझाने की विधि ने इस देश की वाणी के अवतरण के मार्ग में एक सब से बड़ी समस्या उत्पन्न कर दी है।

क्या साहित्य केवल व्यक्तिगत रुचि-हॉबी मात्र है। क्या उसे विशेष प्रतिभा द्वारा संपादित और स्थायी महत्त्व का सामाजिक कर्म मानकर अतीत युगों ने भूल की है। क्या अन्य युगों और देशों की उक्त भूल का परिमार्जन करने के लिए ही हमारे यहाँ ऐसी व्यवस्था हो रही है। क्या इस व्यवस्था से साहित्य का लक्ष्य, राजनीतिक लक्ष्य से एकाकार हो सकेगा और क्या इस ऐक्य से साहित्य के मूल्यों की रक्षा और वृद्धि हो सकेगी—ये सभी प्रश्न सामयिक हैं और हमारे चिन्तन से कोई-न-कोई समाधान चाहते हैं।

विश्वासी बुद्धि और विवेकी हृदय अपने आप में सब शंकाओं का समाधान है। यदि आज हम इन दो विशेषताओं को सुलभ करने की साधना में लग जायें, तो अन्य समस्याएँ स्वयं सुलझ जायेंगी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८ | भारतीयता

स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'

भारत की आत्मा सनातन है, भारतीयता केवल एक भौगोलिक परिवृति की छाप नहीं हैं, एक विशिष्ट आध्यात्मिक गुण है, जो भारतीय को सारे संसार से पृथक् करता है। भारतीयता मानवीयता का निचोड़ है, उसकी हृदयमणि है, उसका शिर सावतंस है, उसकी नाक का बेसर है······

आप कहते चले जाइये, सौ श्रोताओं में से एक को—नहीं, आपको हजार श्रोता मिलें तो हजार में से एक को—छोड़ कर बाकी सब आपके शब्द गट-गट पी जायेंगे, एक हल्की-सी तन्द्रा, एक सुखालस पिनक-सी उन पर छा जायेगी, कितना अच्छा है यह सुनना कि भारतीयता मानवीयता की नाक का बेसर है, क्योंकि निस्सन्देह भारतीयता की नाक का वेसर मैं स्वयं हूँ······

तब वह जो सौ में एक—या हजार में एक—है, उसे पकड़ लीजिए। उसे इंगित करके बाकी सभी से कहिए, 'देखिये' वह आदमी शाश्वत भारतीयता को नहीं जानता-मानता। अपनी संस्कृति से, मानवीयता के श्रेष्ठ दाय से, यह अपरिचित है, भारत की सनातन आत्मा से इसने अपने को तोड़ लिया है···सब लोग उसकी ओर दया भरी दृष्टि से देखने लगेंगे—अरे, विचारा, अभागा, अज्ञान-मोहान्धकार-ग्रस्त कहीं का! और कुछ कदाचित् अवहेलना और हिकारत की दृष्टि से उसे देख कर मुँह फेर लेंगे—कम्बख्त परम्परा-द्वेषी पर-मुखापेक्षी, सदियों की गुलामी से इसकी आत्मा गुलाम हो गयी है।

ठीक इस मौके पर आप मुड़कर उन नौ सौ निन्नानवे श्रद्धालु आत्मरत श्रोताओं से वह प्रश्न पूछ बैठें जो उन्हें पहले ही आप से पूछना चाहिए था—कि भारतीयता आखिर है क्या? भारत की आत्मा का वैशिष्ट्य किसमें है? तो वे अचकचा जायेंगे। फिर खिसियानी-सी हँसी हँस देंगे। हें-हें, यह भी भला

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई पूछने की बात है, आप तो मजाक करते हैं, भारत की आत्मा माने—हाँ-हाँ, सदियों से सब जानते हैं, भारत की आत्मा माने—भारत की आत्मा ! हाँ, हाँ वही तो।

हाँ, हाँ, वही तो ! सदियों से सब जानते हैं तभी अब पूछने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन किसी भी सांस्कृतिक परम्परा से, किसी भी जाति की व्यक्तिगत और समूहगत रचनात्मक प्रवृत्तियों के समन्वय से उत्पन्न गति से लाभ उठाने के लिए, उसे नया जीवन देने के लिए, उससे अनुप्राणित हो कर आगे बढ़ने के लिए, आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति यह प्रश्न पूछे, उसका उत्तर अपने में पावे, उससे जो भी गत्यात्मक प्रेरणा मिल सकती हो उसे आत्मसात् करे। क्योंकि ऐतिहासिक परम्परा कोई पोटली बाँध कर रखा हुआ पाथेय नहीं है जिसे उठा कर हम चल निकलें। वह रस है जिसे हम बूंद-बूंद अपने में संचय करते हैं—या नहीं करते, कोरे रह जाते हैं।

और प्रश्न पूछने की आवश्यकता का सबसे बड़ा प्रमाण तो वह स्वीकारात्मक औदासीन्य ही है जो इस प्रश्न पर हमें मिलता है। उसे लक्ष्य करते हुए समकालीन भारतीय मानस की पड़ताल करें—और यहाँ भारतीय मानस से अभिप्राय केवल उसके इने-गिने मेधावियों का मानस नहीं, लोकमानस है, प्राकृत जन का भी मानस है—तो हम कह सकते हैं कि भारतीयता का पहला लक्षण या गुण है सनातन की भावना, काल की भावना, काल के आदि-हीन अन्तहीन प्रवाह की भावना—और काल केवल वैज्ञानिक दृष्टि से क्षणों की सरणी नहीं, काल हम से, भारतीय जाति से, सम्बद्ध विशिष्ट और निजी क्षणों की सरणी के रूप में। इसके प्रभावों की पड़ताल की जाये, इससे पहले इसकी पृष्ठभूमि पर एक दृष्टि और दौड़ा ली जाये। कलियुग कितने वर्षों का होगा, यह शास्त्र बताते हैं। इसी प्रकार द्वापर, त्रेता और सतयुगों के काल हैं। यों तो इतना ही मानव काल-कल्पना की शक्ति से परे चला जाता है। लेकिन आगे जब हम जानते हैं कि यह ब्रह्मा का केवल एक पल है, और फिर हिसाब लगाते हैं कि ब्रह्मा का दिवस और वर्ष कैसा होगा—तब हम यथार्थता के क्षेत्र से बिलकुल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परे चले जाते हैं। ऋषि-मुनि साठ हजार वर्ष तक तपस्या कर लेते थे। आज साठ वर्ष को मानवीय आयु की औसत मान कर उससे हजार-गुनी अवधि की कल्पना, खैर, की भी जा सकती है, लेकिन देवताओं की आयु-गणना करने जाते ही फिर यथार्थता का आँचल छूट जाता है। इस प्रकार सनातन के बीच तक पहुँचते-पहुँचते हम काल की यथार्थता का बोध खो देते हैं। सनातन की भावना लम्बी काल परम्परा की भावना नहीं, काल की अयथार्थता की भावना है।

यों तो पश्चिम की युवा संस्कृतियों में पले हुए लोग प्रायः पूर्व की प्राचीन संस्कृतियों की चर्चा करते हुए 'संस्कृति के भार' की चर्चा किया करते हैं—बहुत लम्बी सांस्कृतिक परम्परा का एक बोझ उस परम्परा में रहने वालों पर हो जाता है, जिससे वह समकालीन प्रत्येक प्रवृत्ति या घटना को सुदूर अतीत की कसौटी पर परखने लगते हैं, सामने न देख कर पीछे देखते हैं और एक प्रकार के नियतिवादी हो जाते हैं। भारत के बारे में और इसी प्रकार मिस्र आदि के बारे में—पाश्चात्य अध्येताओं ने ऐसे विचार प्रकट किये हैं। लेकिन अगर कुछ सहस्र वर्षों को सांस्कृतिक परम्परा का ही इतना बोझ हो सकता है, तो कल्पना कीजिए उस बोझ का, जो ब्रह्मा के एक युग की उद्भावना करने से पड़ता होगा। यद्यपि यह हम कह चुके हैं कि ब्रह्मा का युग हमारी उद्भावना की पकड़ से बाहर की चीज है—वह काल्पनिक यथार्थता भी नहीं हो सकती।

भारतीयता का दूसरा विशिष्ट गुण है स्वीकार की भावना। किसी हद तक यह पहली विशेषता का परिणाम ही है। हिन्दू देवताओं को छोड़ कर किसी के दिन और वर्ष इतने लम्बे नहीं होते। यों अमर तो सभी देवता होते हैं, लेकिन दूसरों के देवताओं के दिन-रात साधारण मानवीय दिन-रात ही होते हैं, और उनकी जीवन-चर्या की कल्पना हमें अपने यथार्थ काल से परे नहीं ले जाती। लेकिन भारत के देवताओं के जीवन की कल्पना ऐहिक काल की भावना को मिटाकर ही की जाती है। और जब हमारा काल ही यथार्थ नहीं रहता, तब उस काल में होने वाले व्यापार भी अयथार्थ हो जाते हैं। हमारे यथार्थ दुःख-क्लेश हमारी, यथार्थ आशा-आकांक्षा, मानव के उद्योग-परिश्रम—मानवीय व्यापार-मात्र अयथार्थ हो जाते हैं। और यथार्थता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से इस स्खलन का प्रभाव मानवी सम्बन्धों पर भी पड़ता है। हमारे लिए हमारे पड़ोसी भी यथार्थ नहीं रहते, वल्कि किसी हद तक हम स्वयं ही अपने लिए यथार्थ नहीं रहते—क्योंकि जिस ब्रह्मा के एक निमिष-पात में हमारे कल्पान्त विलीन हो जाते हैं, उसके सामने क्या है हमारा क्षुद्र जीवन – हमारी अपेक्षा में एक रोग-कीटाणु का जीवन जितना नगण्य है, उससे भी तो अधिक नगण्य हम हो जाते हैं। और फिर ब्रह्मा के 'निमिष-पात' की हम जब कल्पना करते हैं, तो ब्रह्मा की मानवाकार ही कल्पना करते हैं—अर्थात् एक कल्पित-या कल्पनातीत—अतिमानव ब्रह्मा के सामने यथार्थ ऐहिक मानव न कुछ के बराबर है। अपनी इस नगण्यता से ही स्वीकार की भावना उत्पन्न होती है—दुःख के प्रति स्वीकार, दैन्य के प्रति स्वीकार, अत्याचार के प्रति स्वीकार, उत्पीड़न के प्रति स्वीकार—यहाँ तक कि दासता के प्रति स्वीकार, वह दासता दैहिक हो या मानसिक।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'भारतीयता' के मूल में जो भावना या भावनाएँ हैं, उनसे हमें मानवीय अस्तित्व की नगण्यता और जीवन के प्रति अवज्ञा का पाठ मिलता है। यह परिणाम चौंकाने वाला है। लेकिन स्वीकार महज चौंकना भी तो नहीं। और न चौंकने के लिए उसके पास और भी सहारे हैं—इस अस्तित्व से परे परलोक के किसी चमकीले अस्तित्व का, और जीवन के प्रति अवज्ञा के उत्तर में जीव-दया के भारतीय आदर्श का। लेकिन जिस तरह चिरन्तन काल की भावना ने हमारे यथार्थ काल के बोध को मिटाया है, उसी प्रकार व्यापक जीव-दया ने जीवित-व्यष्टि के प्रति करुणा को भी मिटा दिया है, जीवदयावादी जीव-मात्र के प्रति दया रखता हुआ किसी भी जीव-मानव या मानवेतर—का कष्ट मजे में देखता चलता है।

मैं परम्परा-द्रोही नहीं हूँ, न भारतद्वेषी ही हूँ। न ही मैं निराशावादी हूँ। और तात्कालिक लाभ या उपयोगिता या सफलता के नाम पर नैतिक मूल्यों की उपेक्षा मुझे कभी अभीष्ट नहीं रही—मेरा आग्रह सदैव अवसरवाद के विरुद्ध और नैतिक मूल्य की रक्षा का रहा है। मुझे यही कहना है कि भारतीयता का जो रूप हमारी तत्सम्बन्धी सहज स्वीकृति हमारे सनातन स्वीकार में—लक्षित होता है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी मूल भावनाएँ स्वयं जड़ हैं और जाड्य उत्पन्न करने वाली हैं, और उससे परिव्याप्त संस्कृति (मैं 'अनुप्राणित' कहने लगा था, पर अनुप्राणित तो तब हो जब प्राण हो, जड़ता से तो विजड़ित ही होगी !) गतिहीन, स्थितिशील और अगतिवादी या प्रगतिवादी ही होगी।

इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि भारतीय संस्कृति अग्राह्य है, या कि भारतीय परम्परा त्याज्य है। परिणाम एक तो यह निकलता है कि उसके संबंध में हमारी धारणाएँ भ्रान्त हैं और त्याज्य हैं। दूसरे यह भी परिणाम निकलता है कि जिसे हम भारत की आत्मा कहते हैं, वह वास्तव में आत्मा और अनात्म का, जीवित और जड़ का एक पुंज है, जिसकी परीक्षा की आवश्यकता है, परीक्षा करके जड़ को अलग रख देना होगा—चाहे पुरातत्त्व संग्रहालय में ही—और जीवित को आगे बढ़ाना होगा। आगे तीसरा परिणाम यह भी निकलता है कि आज बहुधा भारतीय संस्कृति के जड़ तत्त्वों को ही भारतीयता माना जाता है। कुछ लोग भारतीयता के समर्थन के नाम पर निरी जड़ता का समर्थन करते हैं कुछ दूसरे जड़ता के विरोध के नाम पर संस्कृति से ही इनकार करना चाहते हैं।

हमें चाहिए वह बेलाग, सचेत, स्वाधीन जिज्ञासा जो परिवृति में घिरी हुई भी आगे देखे। जो अपने देश में रह कर भी आगे देखे, आगे दूसरे देशों को नहीं, हम से आरम्भ होने वाली आगे की दिशा को, आगे को। जो अपने काल में रह कर भी आगे देखे, न इधर अनादि को, न उधर अनन्त को, वरन् हमसे आगे के उस काल को जो हमारे काल से प्रसूत है और जिसके हम स्रष्टा हैं। वह अपरिबद्ध जिज्ञासा भारतीयता है कि नहीं, इस पर विद्वान लोग बहस कर सकते हैं, मैं असन्दिग्ध भाव से इतना जानता हूँ और कहना चाहता हूँ कि वह भारतीयता को कल्याणकर बना सकती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९ | कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी

गजानन माधव 'मुक्तिबोध'

एक

मेरी डायरी पर बहुत कम बहस हुआ करती है। लेकिन कल हो ही गयी। वो जो यशराज हैं न। वही, वही ! उस गली में रहते हैं। नहीं, नहीं, उनकी वकालत नहीं चलती। हाँ, यूँ ही हैं, यों आदमी क़ाबिल हैं। बी० एस-सी०, बी० टेक०, एल-एल० बी०, लेकिन बिलकुल बेरोज़गार हैं। इस शहर में उन्हें सब जानते हैं। हँसते हैं उन पर। वे बेरोज़गार हैं न, इसलिए ! उनके चेहरे पर हमेशा शनीचरी छाया रहती है।

खैर, तो 'वसुधा' के लिए लिखी गयी ताज़ी-ताज़ी डायरी उन्हें सुनाने का मुझे जब सौभाग्य प्राप्त हुआ तो मैं बड़ा खुश था। क्या तीर मारा है मैंने ! यशराज गरदन नीचे डाले मेरी डायरी को चुपचाप सुन रहे थे। जब सुनाना खत्म हुआ तो बहुत ही मन्थर गति से उन्होंने अपना सिर ऊँचा उठाया। कहने लगे—

"यह डायरी एकदम फ़ॉड है !"

मुझपर वज्रपात हो गया था। काटो तो ख़ून नहीं। नाड़ी खिसक गयी। यशराज ने अपना चेहरा ऐसा बिगाड़ लिया था, मानो उनकी ज़बान का स्वाद एकदम कड़ुआ हो उठा हो !

डायरी मैंने बहुत मेहनत से बनायी थी। परसाई जी के पत्र-रूपी पिस्तौलों से सम्प्रेरित होकर मैंने इतनी मेहनत की। नतीजा क्या निकला···धूल ··राख··· बालू !

मैंने अपने मन को काफ़ी नसीहत दी। उसकी पीठ थपथपायी। लेकिन निःसन्देह उस समय मेरा चेहरा बहुत पीला हो गया, क्योंकि मैंने उन क्षणों का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभव किया कि चेहरों का ख़ून निचुड़ता हुआ दिल में टपक रहा है। मैंने यशराज की तरफ़ जब देखा तो मुझे सन्देह हुआ कि वह भी मुझपर हँस रहा है !

मैंने अपने को सँवारते हुए, अटकते हुए और शब्दों के लिए भटकते हुए कहा "तुम भले ही फ़्रॉड कह लो। इसमें व्यक्तिगत ईमानदारी जरूर है ! डायरी मेरी व्यक्तिगत ईमानदारी का सबूत है।"

यशराज ने अपनी मुसकान दबा ली। उसके होठों की इस छोटी-सी हलचल से मुझे घाव-सा लग गया। मैं प्रयत्न करने लगा कि मेरी आँखों में क्रोध या ख़ून दौड़ जाये। लेकिन, देह में रक्त ही नहीं था। दूसरे, अगर मैं अकड़ने का नाट्य भी करता तो भी बात न बनती क्योंकि वैसा करना मेरी बौद्धिक संस्कृति के मानदण्डों के बिलकुल विपरीत था।

अबतक का इतिहास यह है कि मैं अपनी बुद्धि द्वारा हृदय को सम्पादित और संशोधित करता आया हूँ। यह प्रक्रिया बिलकुल बचपन ही से चल रही है। ज़िन्दगी एक महाविद्यालय या विश्वविद्यालय नहीं है। वह एक प्राइमरी स्कूल है, जहाँ टाट-पट्टी पर बैठना पड़ता है; ज़रा-सी बात पर चाँटे के आघात की सारी संवेदनाएँ गालों पर झेलनी पड़ती हैं। जी हाँ ! इस ज़िन्दगी का यही हाल है ! भय, आतंक, विचित्र आशंकाएँ, अजीबो-ग़रीब उलझाव, फटी हुई टाट-पट्टियाँ, पुराने स्याही-रंगे टेबल, गुरुजी की भयानक दुतरफ़ा मूँछ और घर में माता-पिता की डाँट-फटकार और बच्चे का कोमल छोटा-सा शरीर !

सोच था कि जल्दी-जल्दी बड़ा हो जाऊँगा। ऊँचा, तगड़ा, मोटा। फिर, ज़िन्दगी, प्राइमरी न रहेगी। लेकिन, नहीं ! ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया ख़ून सूखता गया। ऊँचा हुआ, साथ ही जर्जर भी। ज़िन्दगी पहले से भी बदतर प्राइमरी स्कूल होती गयी। जी हाँ, ज़िन्दगी-भर पाठ पढ़ना है। सिर्फ़ पहाड़े पढ़कर ही काम नहीं चलने का। गुणा-भाग की नयी से नयी कतर-ब्यौंत करनी पड़ेगी। अँगुलियों में स्याही, क़मीज़ पर नीले दाग़, होठों के एक सिरे पर नीला रंग। मरने तक प्राइमरी स्कूल ही रहेगी यह ज़िन्दगी। वही पुरानी फटी टाट-पट्टी मानो मेरी कविता की एक पंक्ति !

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यशराज की बात अलग है। वह आला आदमी है। वह आइन्स्टीन की बात करता है। प्लैंक और ला प्लॉस उसकी ज़बान पर नाचते हैं। मैं ? इस मैं को नष्ट कर दो ! भारतीय संस्कृति का यह सन्देश है !

यशराज का शब्द-प्रवाह मेरे कानों में बहा, "व्यक्तिगत ईमानदारी का क्या अर्थ है ? अधिक से अधिक वह अभिव्यक्ति की ईमानदारी है। इससे अधिक कुछ नहीं ! तुममें तो अभिव्यक्ति की ईमानदारी भी नहीं है।"

यशराज न मालूम क्या कहता गया। मैं तो अपने मन में यह सोच रहा था कि मुझे तो बुद्धि के द्वारा अपने हृदय को सम्पादित और संशोधित करना है, उसमें पाद-टिप्पणियाँ जोड़नी हैं, भूमिका लिखनी है, सब के पीछे निर्देश-सूची भी तो जोड़ देनी है। किन्तु यह सम्पादन और संशोधन क्या कभी भी पूरा होगा ? क्या कभी भी मैं मास्टरपीस की भाँति उसे उपस्थित कर सकूँगा ? शायद यह सम्भव ही नहीं है। कल ही तो बूढ़े, बहुत बूढ़े, पिताजी ने मुझे कहा था कि आख़िरी साँस छूटने तक नया सीखना पड़ता है, अपने-आप में संशोधन करते रहना पड़ता है। लगातार सीखते जाना और नये-नये पाठ पढ़ना पड़ता है ! ऐसा !

मैंने यशराज से आत्मस्वीकृति के स्वर में कहा, "व्यक्तिगत ईमानदारी का अर्थ है—जिस अनुपात में, जिस मात्रा में, जो भावना या विचार उठा है, उसको उसी मात्रा में प्रस्तुत करना। जो भाव या विचार जिस स्वरूप को लेकर प्रस्तुत हुआ है, उसको उसी स्वरूप में प्रस्तुत करना लेखक का धर्म है !"

यशराज ने ज़िद्दी आवाज़ में कहा, "क्या उसका धर्म यहीं तक सीमित है ? यदि वह यहीं तक सीमित है तो वह व्यक्तिगत ईमानदारी भी नहीं है, अभिव्यक्ति की ईमानदारी भी नहीं।"

यशराज से बहस करने की मेरी तबीयत नहीं हो रही थी। लगता था अगर कोई व्यक्ति एक कप चाय दे दे तो नसें गरमा जायें। फिर शायद बहस के क़ाबिल हो सकूँ। फिर भी, अगर मैं जवाब न देता तो बहुत बुरा-सा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीखता। आखिर ऐसी भी क्या बात है ! सम्भव है यशराज के पास भी कुछ ऐसा कहने के लिए हो जो मेरा पूरक हो सके। ज़रा इत्मीनान से काम लो !

मैंने कहा, "कैसे ?"

यशराज पिस्तौल से छूटी हुई गोली की भाँति उड़ता गया। उसने कहा, "जो भाव या जो विचार जिस स्वरूप को लेकर जिस मात्रा में और जिस अनुपात में प्रस्तुत हुआ है, उसको उसी स्वरूप में प्रस्तुत करना एकदम नाकाफ़ी है। महत्त्व की बात यह है कि वह भाव या वह विचार किसी वस्तु-तथ्य से सुसंगत है या नहीं। 'व्यक्ति ईमानदारी' का नारा देने वाले लोग असल में, भाव या विचार के सिर्फ़ 'सब्जेक्टिव' पहलू—केवल आत्मगत पक्ष के चित्रण को ही महत्त्व देकर उसे 'भाव-सत्य' या 'आत्म-सत्य' की उपाधि देते हैं। किन्तु भाव या विचार का एक आब्जेक्टिव पहलू अर्थात् वस्तुपरक पक्ष भी होता है। आजकल लेखन-कार्य में आत्मपरक पक्ष को महत्त्व देकर वस्तुपरक पक्ष की उपेक्षा की जाती है। चित्रण करते समय आत्मपरक पक्ष को प्रधानता दी जाती है, वस्तुपरक पक्ष को नहीं। इस रवैये का असर टेकनीक पर पड़ता है।"

यशराज की आँखें देखने के क़ाबिल थीं। वह मुझे इस तरह देख रहा था मानो झिड़क रहा हो। किन्तु उसके चेहरे की ओर नहीं वरन् उसकी बातों की ओर ध्यान मैं देने लगा।

यशराज कहता गया, "मध्ययुगीन भारतीय काव्य में कुछ महत्त्वपूर्ण अपवादों को छोड़, प्रधान प्रवृत्ति वस्तुपक्ष के वर्णन की ओर ही अधिक रही। इस प्रवृत्ति ने आत्मपक्ष को गौण स्थान दिया। नये छायावादी युग ने आत्मपक्ष को ही प्रधान स्थान दिया और वस्तुपक्ष को गौण। यदि हिन्दी की नयी कविता को साहित्य के इतिहास में, या यूँ कहिए कि संस्कृति के इतिहास में, कोई महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करना है, तो उसे काव्य की प्रकृति तथा शिल्प में आत्मपक्ष और वस्तुपक्ष का समन्वय उपस्थित करना होगा।"

यशराज ने विजेता की आँखों से मुझे देखा। निःसन्देह मुझे पराजित होना पड़ा। मैंने दो सेर का अपना सिर हिला कर उसकी हाँ में हाँ मिलायी। तब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकाएक मुझे भान हुआ मानो मेरे मस्तक की सन्दूक़ में सचमुच आलू और भण्टे भरे हैं ! उनकी तो तरकारी भी नहीं हो सकती।

इसके बावजूद मैं यशराज की बात ज्यादा ध्यान से सुनने लगा। मुझे प्रतीत हुआ कि उसे ऐसा कुछ कहना है जो मेरे लिए मूल्यवान् भी सिद्ध हो सकता है।

मैंने प्रार्थना के स्वर में कहा, "यशराज, मैं नयी कविता का कोई प्रवक्ता नहीं हूँ। मैं तुम्हारी बात मानने के लिए मान भी लूँ; किन्तु मेरे लिए यह एक रहस्य ही बना रहेगा कि किस प्रकार वस्तुपक्ष से आत्मपक्ष का समन्वय स्थापित किया जाता है ?"

यशराज ने बीच ही में बात काटते हुए कहा, "मैं तो तुम्हारी डायरी के बारे में बात कर रहा था। उसके प्रसंग से नयी कविता पर चला आया। तुमने जगह-जगह, व्यक्तिगत ईमानदारी की जो बात कही है वह बहुत ही कुहरिल है। 'व्यक्तिगत ईमानदारी' की क्या परिभाषा है ? मैं बहुत-सी 'नयी' कविताएँ पढ़ता हूँ। मुझे उनमें कुछ विशेष ईमानदारी नहीं मालूम होती।"

यशराज कहता गया, "नयी कविता की भी एक लीक पड़ गयी है। वह भी एक ढर्रा है। ढर्रे में सब कुछ खपाया जा सकता है। एक बार शिल्पविधान पर अधिकार हो जाये कि बस...!"

उसने कहना जारी रखा, "यह तो तुम मानते हो कि भाव या विचार का एक वस्तुतत्त्व भी होता है अर्थात् वह एक ऐसी मानसिक प्रतिक्रिया है जो किसी वस्तुतत्त्व के प्रति की गयी है। इस मानसिक प्रतिक्रिया में सत्यत्व तो तभी उत्पन्न होगा जब उसमें वस्तुतत्त्व का वस्तुमूलक आविर्भाव हो। साथ ही उसमें यह बोध भी सम्मिलित हो कि जो मानसिक प्रतिक्रिया उस वस्तुतत्त्व के प्रति हुई है, वह सही है या ग़लत, उचित है या अनुचित, ठीक अनुपात में है कि ग़लत अनुपात में। यदि ऐसा नहीं हुआ तो बड़ी अजीब बात होगी।"

मैंने मुसकरा कर कहा, "हज़रत, काव्य की प्रक्रिया ज्ञानात्मक प्रक्रिया नहीं है।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यशराज ने जवाब दिया, "ठीक ! किन्तु ज्ञान और बोध के आधार पर ही भावना की इमारत खड़ी है। यदि ज्ञान और बोध की बुनियाद ग़लत हुई तो भावनाओं की इमारत भी बेडौल और बेकार होगी। उसका असर काव्य-शिल्प पर भी होगा।"

यशराज यह कह कर क्षणमात्र चुप रहा मानो साँस लेना चाह रहा हो। वह आगे कहता गया, "व्यक्तिगत ईमानदारी वहाँ लक्षित होगी जहाँ वस्तु का वस्तुमूलक आकलन करते हुए लेखक उस आकलन के आधार पर वस्तुतत्त्व के प्रति सही-सही मानसिक प्रतिक्रिया करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसकी प्रतिक्रिया में सत्यत्व का आविर्भाव नहीं होगा।"

मैंने कहा, "तुम्हारी परिभाषा यदि स्वीकार कर ली जाये तो काव्य के क्षेत्र में एक दंगा-सा मच जायेगा। असलियत यह है कि तुम जिस वस्तुमूलक सत्य की बात करते हो, वह काव्य के भाव-सत्य से अलग है..."

यशराज ने आँखें फाड़कर मेरी तरफ़ देखना शुरू किया मानो मैं कोई जिराफ़ या कंगारू-जैसा अजीबो-ग़रीब प्राणी होऊँ।

मैंने भी बहुत गम्भीरता से उत्तर दिया, "मैं भी अपनी बात कहाँ समझा पा रहा हूँ !"

दोनों ने अपने-अपने आसन बदले !

मैंने शून्य की ओर देखना शुरू किया। उस शून्य में मुझे दो बातें नज़र आयीं। एक तो यह कि यशराज के अनुसार मानसिक प्रतिक्रिया जिस वस्तु के प्रति होती है उस वस्तु का भी चित्रण परमावश्यक है, दूसरी यह कि सत्यत्व के आविर्भाव के लिए यह ज़रूरी है कि कवि उक्त वस्तुतथ्य के प्रति सही-सही मानसिक प्रतिक्रिया करे।

यशराज के इस अभिमत पर मेरे मन ने इस प्रकार टिप्पणी की। मन कहता गया : अपनी मानसिक प्रतिक्रिया वस्तुतथ्य के प्रति सही-सही है या नहीं-इसकी कसौटी क्या है ? मेरे खयाल से कवि-लेखक अपने दृष्टिकोण से किसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतथ्य के प्रति प्रतिक्रिया करता है। माना कि मानसिक प्रतिक्रिया करता है। माना कि मानसिक प्रतिक्रिया में संवेदना अन्तर्भूत है, किन्तु उसमें दृष्टि या दृष्टिकोण भी अन्तर्भूत है। संवेदना और दृष्टि दोनों से मिलकर मानसिक प्रतिक्रिया होती है। हाँ, यह आवश्यक नहीं है कि मानसिक प्रतिक्रिया करते समय कवि उस दृष्टि या दृष्टिकोण के पीछे रहनेवाली अर्थात् उसकी पार्श्वभूमि के रूप में रहनेवाली अपनी सम्पूर्ण विचारधारा से पूर्णतः सचेत हो। मनुष्य के ध्यान रूपी फ़ोकस में सारी वस्तुएँ एक साथ नहीं रह सकतीं। किन्तु ध्यान अलग चीज़ है, मन अलग बात है। ध्यान में तो वस्तुतथ्य है, उस वस्तुतथ्य के के प्रति संवेदनात्मक प्रतिक्रिया की गयी है; किन्तु उस प्रतिक्रिया में प्रच्छन्न रूप से अथवा अर्ध-सचेत रूप में कवि की दृष्टि या दृष्टिकोण अवश्य रहता है। यह दृष्टि या दृष्टिकोण अनिवार्यतः बौद्धिक ही होता है, यह नहीं कहा जा सकता। हम उसके दृष्टिकोण को रुख या रवैया भी कह सकते हैं। मज़ेदार बात यह है कि कभी-कभी मानसिक प्रतिक्रिया करते समय तो एक रुख या दृष्टि रहती है किन्तु मन एक इकाई ही नहीं होता। उस इकाई के भीतर दुई भी होती है। ऐसी स्थिति में मानसिक प्रतिक्रिया के भीतर एक रुख और उस प्रतिक्रिया को सम्पादित और संशोधित करनेवाली एक और दृष्टि रहती है। विवादियों के एक पक्ष का कहना है कि मानसिक प्रतिक्रिया का यह संशोधन-सम्पादन अनावश्यक है, ग़लत है, खतरे से भरा हुआ है। यहाँ बेईमानी हो सकती है, होती है, जान-बूझकर की जाती है। इसलिए होना यह चाहिए कि व्यक्तिगत मानसिक प्रतिक्रिया को, ज्यों का त्यों, ठीक-ठीक अनुपात और मात्रा में प्रकट किया जाये।

उनके इस अभिमत में बहुत कुछ सार है। काव्य में लम्बी-चौड़ी बात हाँकनेवाले, स्वाँग करनेवाले; अपने को मसीहा और क्रांतिकारी समझकर बात करनेवाले लोग छोटी-सी मानसिक प्रतिक्रिया को अपनी दृष्टि के अनुसार बहुत बढ़ा-चढ़ाकर रखते हैं। वे एक ऐक्टर हैं; नट हैं। वास्तविक प्रेम करने का आत्मबल उनमें बिलकुल भी नहीं है; किन्तु स्वाँग ऐसा करते हैं मानों वे अपनी प्रेमिका के बिना जी नहीं सकते। अगर हम मानसिक प्रतिक्रिया को ज्यों-त्यों, स्वाभाविक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुपात और मात्रा में, व्यक्त करने का आग्रह नहीं करते, उस आग्रह को महत्त्व नहीं देते, तो काव्य में-से अभिनेता तथा स्वाँगवाले लोग, लम्बी-चौड़ी बात हाँकनेवाले सज्जन, बिला शक एक झूठा साहित्य पैदा कर देते हैं। ऐसे मन की इकाई में जो दुई है। उसकी प्रकृति के अनुसार अपनी मूल मानसिक प्रतिक्रिया को सम्पादित और संशोधित करते हैं। कहते हैं कि काव्य एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है-मात्र व्यक्तिगत नहीं। इसलिए उन्हें काव्य-सृजन के दौरान में (मन के भीतर) अभिनेतृत्व करने, स्वाँग रचने, लम्बी-चौड़ी हाँकने आदि-आदि की पूरी छूट है। वे कहते हैं कि काव्य एक सांस्कृतिक संस्था है, वह मात्र व्यक्तिगत कमरा नहीं।

खैर, बड़े-बड़े शब्दों को जाने दीजिए। मैं भी मानसिक प्रतिक्रिया को सम्पादित और संशोधित करने की बात कहता आया हूँ। मेरे इस मन्तव्य का क्या वास्तविक अर्थ है ? और यह यशराज जब मानसिक प्रतिक्रिया के सहीपन की बात करता है, वस्तुतथ्य के प्रति सही-सही मानसिक प्रतिक्रिया करने पर जोर देता है तो उसकी इस बात का निर्देशक महत्त्व क्या है ? क्या यशराज यह कहना चाहता है कि कवि जीवन-जगत् के प्रति वास्तविक विश्व-दृष्टि का विकास करे, और वह विश्व-दृष्टि उसकी मानसिक प्रतिक्रिया की प्रेरक हो ? यदि सचमुच उसका यही मत है तो मेरी और उसकी पोजीशन्स में विशेष भेद नहीं है।

मैं इतनी सब बातें क्षण-भर में सोच गया। भीतर का मेरा अपना सारा विचार-जगत् मूर्तिमान हो उठा। किन्तु यशराज की बातों का प्रवाह कहीं और जा रहा था।

वह कहता गया, "व्यक्तिगत ईमानदारी वह है जहाँ लेखक वस्तु का वस्तु-मूलक आकलन करते हुए उस आकलन के आधार पर वस्तुतत्त्व के प्रति सही मानसिक प्रतिक्रिया करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसकी प्रतिक्रिया में सत्यत्व का आविर्भाव उत्पन्न नहीं होगा। यही न ?"

मैंने जवाब दिया, "तुम्हारी परिभाषा यदि स्वीकार कर ली जाये तो काव्य के क्षेत्र में एक हंगामा मच जायेगा। काव्य का सत्य, शासकीय या वैज्ञा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निक सत्य नहीं हैं। यदि वस्तुतः वैसा होता तो अब तक दुनिया में जितना भी काव्य-साहित्य उत्पन्न हुआ है वह तुम्हारी परिभाषा का अनुगमन करता।"

यशराज बीच में बोल उठा, "मैं तो व्यक्तिगत ईमानदारी की बात कर रहा हूँ। मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दी में (मैं हिन्दी की बात ही बोल सकता हूँ) बहुतेरी ऐसी कविताएँ हैं जो बिलकुल फ़ॉड हैं। जिन्हें तुम 'नयी कविता' कहते हो, उसमें भी फ़ॉड की कमी नहीं है।"

शायद यशराज ने मुझे उत्तेजित करने के लिए यह कहा होगा। लेकिन ईश्वर की कुछ ऐसी कृपा रही कि मैं विचलित नहीं हुआ। मैंने शान्त भाव से तिरछी मार की। मैंने कहा, "तुम्हारी आलोचना क्या फ़ॉड नहीं है ?"

मैंने कुछ आलोचकों के नाम भी लेना चाहे। लेकिन सोचकर चुप रह गया। आलोचक भी तो झूठ के साथ-साथ कभी सच बोल जाया करते हैं। हाँ, यह होता है उनके मसीहाई बौद्धिक अहंकार के बावजूद।

यद्यपि मैं शान्त था, किन्तु उत्तेजना घर कर रही थी। हमारी और यश-राज की आपसी सिर-फुटौवल कई बार हो भी चुकी है। इसलिए उससे घबराने की बात नहीं थी।

दो

बात चल रही थी आलोचना और काव्य पर। यशराज न जाने किस बात पर चीख़कर टेबल पर घूंसे मारने लगा और बोला, "हाँ, आलोचना में फ़ॉड होता है, किन्तु काव्य में भी होता है। एक तो फ़ॉड जान-बूझकर किया जाता है अर्थात् काव्य में लेखक जो दृष्टि अपनाता है वह उसकी अन्तर्दृष्टि नहीं होती। कवि एक अभिनेता भी है। सफलतापूर्वक अभिनय करने के बाद भी वह अभिनय है। वह असल की नक़ल है। उसमें असल की बू हो सकती है लेकिन वह असल नहीं है।

मुझे हँसी आ गयी है। यशराज के असाहित्यिक शब्द 'असल' और 'नक़ल' मुझे भा गये। बड़े अच्छे शब्द हैं ! एक बात और भी महत्त्वपूर्ण हुई। वह यह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि यशराज काव्य का सत्यत्व वहाँ मानता है जहाँ लेखक अन्तर्दृष्टि को दर-किनारे रखते हुए अभिनेतृत्व करता है। तो मतलब यह कि यशराज यह मानता है कि मानसिक प्रतिक्रिया को ठीक-ठीक अनुपात में ज्यों का त्यों रखने के अनुरोध के महत्त्व को स्वीकार करना है ! यही न ? लेकिन मैंने यह बात ज़बान से नहीं निकाली। मैं तो सिर्फ़ सुन रहा था। यशराज ने कहा, काव्य में एक दूसरे ढंग का फ्रॉड भी होता है।

मैंने कहा, "कौन-सा ?"

यशराज ने जवाब दिया, "यह फ्रॉड तब होता है जब लेखक यह जानता ही नहीं कि वह फ्रॉड कर रहा है। लेखक को पूरा विश्वास होता है कि जो बात वह कह रहा है, सही कह रहा है। अर्थात् जहाँ लेखक ईमानदारी से मूर्ख होता है। लेखक को यह भी विश्वास होता है कि उसकी बात केवल सच्ची ही नहीं वरन् वह सुन्दर भी है और कल्याणकारी भी। लेखक पूर्ण निष्ठा के साथ बात कर रहा है। फिर भी उसकी निष्ठा ही फ्रॉड को जन्म देती है या जन्म दे सकती है।"

"···मतलब यह कि लेखक की निष्ठा और आत्मविश्वास कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उसके साहित्य को फ्रॉड बन जाने से बचाये···दूसरे शब्दों में, लेखक सम्पूर्ण निष्ठा और आत्मविश्वास के साथ भी बड़ा ही सन्तुलित फ्रॉड कर सकता है। ध्यान रखा कि इसका अर्थ यह भी नहीं कि निष्ठा और आत्मविश्वास ऐसी शक्ति है जो अनिवार्य रूप से और हमेशा साहित्य को फ्रॉड ही बनाती है। किंतु अपनी बात पर निष्ठा और आत्मविश्वास होने मात्र से साहित्य निर्मल, छल-रहित, फ्रॉडलेस नहीं होता।"

यशराज को उत्तप्त मुखमुद्रा देखकर मुझे सचमुच हँसी आ गयी। मैंने ठठा कर हँसते हुए कहा, "तो तुम क्या सोचते हो ? लेखक अपने ही खिलाफ़, अपने वस्तुत्त्व के विरुद्ध, अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं के विरुद्ध, जासूसी करे और 'सी० आई० डी० गीरी' करे ? इतना बेवक़ूफ़ लेखक नहीं होता !"

यशराज ने झुंझलाते हुए कहा, "मज़ाक मत करो, असलियत को देखो !"

इस बात पर मुझे और हँसी आ गयी। फिर भी यशराज की बात का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदर करते हुए मैंने कहा, "अच्छा, तो इस दूसरे क़िस्म के फ़्रॉड को ज़रा और समझाइए ! मैं ध्यानमग्न होकर सुन रहा हूँ।"

यशराज बोलता गया, "बस, तुम सरीखा श्रोता मुझे मिल जाये तो मजा आ जाये। आजकल ईमानदार श्रोताओं की बड़ी कमी है। वक्ता तो बहुत ईमानदार होते हैं !"

दोनों की बात ठहाकों में डूब गयी ! यशराज कहता गया—

"लेखक ईमानदारी से फ्रॉड वहाँ करता है जहाँ उसे मालूम ही नहीं होता है कि वह स्वयं फ्रॉड को जन्म दे रहा है। दूसरे शब्दों में, उसके विचार या उसकी अनुभूतियाँ वस्तुतत्त्व के वस्तुमूलक आकलन पर आधारित नहीं होती। अन्यथा, वे ऐसी होती हैं कि जो जीवन के यथार्थ से नियन्त्रित न होकर उसके आत्मबद्ध दृष्टिकोण के फलस्वरूप विक्षेप-ग्रस्त होती हैं। ऐसी स्थिति में लेखक की भावना का ज्ञानात्मक आधार ही ग़लत होता है। इस ज्ञानात्मक आधार की विकृति के फलस्वरूप उसकी भावना भी विकार-ग्रस्त ही होती है। दूसरे शब्दों से लेखक जब केवल सब्जेक्टिव होता है—भले ही वह आब्जेक्टिविटी का आभास निर्माण करता रहे—अर्थात् जब वह अपनी तथाकथित अन्तर्दृष्टि को वस्तुतत्त्व पर थोपता है या अपनी तथाकथित अनुभूति के रंगीन चश्मे से वस्तु-तत्त्व को देखता है तब उसके साहित्य में निःसन्देह फ़्रॉड उत्पन्न होता है।"

यहाँ मैंने यशराज की लगाम थाम ली। मैंने कहा, "मिस्टर, जब हम काव्य के वस्तुत्त्व की बात करते हैं तब हम उस भाव-समुदाय की बात कर रहे हैं जो कि कवि की वाणी-द्वारा व्यक्त होता है।"

यशराज उत्तेजित हो उठा। उसने आवेश से कहा, "मैं काव्य के वस्तुतत्त्व के बारे में तुम्हारी परिभाषा मानने के लिए तैयार नहीं हूँ। काव्य में एक मानसिक प्रतिक्रिया या प्रतिक्रियाओं की शृंखला व्यक्त होती है। वस्तुतत्त्व यह मानसिक प्रतिक्रिया नहीं है जिसके प्रति और जिसके बारे में यह प्रतिक्रिया हुई है। अर्थात् मैं भावों के आलम्बन की बात कर रहा हूँ। समझ गये हज़रत !"

मैंने खीज कर कहा, "भावों के आलम्बन की बात करो। काव्य के वस्तु-तत्त्व में तो भाव और उसका आलम्बन दोनों आयेंगे। हाँ, आगे चलो !"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यशराज ने कहा, "मैं तो अपने शब्दों में बात करूँगा।"

मैंने बीच ही में टोक कर जवाब दिया, जिसका सम्बन्ध उसकी बात से कुछ भी नहीं था। मैंने कहा, "क्या तुम यह मानते हो कि वैसा फ्रॉड बहुत सुन्दर भी हो सकता है, बहुत मनमोहक और बहुत आकर्षक !"

यशराज ने एकदम कहा, "यही तो उसकी खराबी है ! चूँकि वह मनमोहक और आकर्षक होता है इसलिए वह पाठकों को अधिक प्रभावित करता है ! किन्तु इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि फ्रॉड भी एक कला है—एक ललित कला। और जो फ्रॉड है वह ललित कला भले ही हो, वह व्यक्तिगत ईमानदारी के आधार पर उपस्थित ललित कला नहीं है।"

मैंने संत्रस्त होकर कहा, "आखिर तुम कहना क्या चाहते हो ?"

उसने जवाब दिया, "भावना का ज्ञानात्मक आधार। जब तक वस्तुतः शुद्ध है तभी तक वह भावना फ्रॉड नहीं है। किन्तु ज्ञान का भी निरन्तर प्रसार और विकास होता है। चूँकि ज्ञान के क्षेत्र में ही भावना विचरण करती है इसलिए ज्ञान को अधिकाधिक मार्मिक यथार्थ-मूलक और विकसित करने का जो संघर्ष है वह वस्तुतः कलाकार का सच्चा संघर्ष है। यदि कवि या कलाकार यह संघर्ष त्याग देता है, तो वह सचमुच ईमानदार नहीं है। सच तो यह है कि व्यक्तिगत ईमानदारी के भीतर ही एक बहुत बड़ा संघर्ष होता है। दूसरे शब्दों में, कला के क्षेत्र में व्यक्तिगत ईमानदारी स्वयंसिद्ध नहीं वरन् प्रयत्न-साध्य होती है !"

"तो क्या इसका मतलब यह है कि जो लेखक लेखन-कार्य के सम्बन्ध में पूर्णतः सचेत नहीं है अर्थात् जिस लेखक की रचना अनायास, बिना परिश्रम के सहज रूप से प्रसूत होती है उस लेखक में व्यक्तिगत ईमानदारी का अभाव है। हम एक उदाहरण लें। शैले का काव्य भावनाओं का अनायास पूर कहा गया है। चूँकि वह काव्य प्रयत्न-साध्य नहीं था, वरन् एक विशेष अर्थ में अनायास था, इसलिए तुम्हारे अनुसार उसमें व्यक्तिगत ईमानदारी का अभाव रहा है।"

यशराज इस जगह आकर कुछ संकोच में पड़ गया। वह देर तक मेरी बातों का जवाब न दे सका। व्यक्तिगत ईमानदारी के सम्बन्ध में उसने आगे जो स्पष्टीकरण दिया वह बड़ा ही मज़ेदार है। यशराज कहता गया—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तुमने एक बड़ी अच्छी कठिनाई उपस्थित कर दी। लेकिन, हाँ, उसका भी हल है। शैले की बहुत-सी ऐसी कविताएँ हैं जिनका ज्ञानात्मक आधार—उस युग-विशेष की परिस्थिति के घेरे के भीतर—पहले के कवियों के ज्ञानात्मक आधार से अधिक विकसित था। शैले की रोमैण्टिक दृष्टि, क्लासिकल पुराण-पन्थी कवियों की रूढ़िवादी दृष्टि की तुलना में, कहीं अधिक पारदर्शी थी। साथ ही युग की उत्थानशील शक्तियों ने शैले को जो उत्कृष्ट मानवतावादी स्वप्न देकर रखा था उस स्वप्न से वह कवि प्रेरित था। व्यक्ति की आत्मगरिमा तथा व्यक्ति के भीतर की उत्थानशील स्निग्ध आध्यात्मिक सम्भावनाएँ शैले के काव्य में प्रकट होती हैं। शैले के काव्य में जो कुहरिलता है वह उसके युग की उठती हुई शक्तियों के विचार-सामर्थ्य की सीमा घोषित करती है तो साथ ही वह यह भी सूचित करती है कि उन उठती हुई शक्तियों में भावना-तत्त्व अधिक था विचार-तत्त्व आपेक्षिक दृष्टि से कम। शैले के काव्य का ज्ञानात्मक आधार निःसन्देह अन्य कवियों की अपेक्षा न केवल सत्यात्मक था, तथ्यात्मक था, वरन् वह अधिक विशद, विस्तृत और निर्णायक भी था। दूसरे शब्दों में, शैले में एक विशाल जागरूकता थी। इस ज्ञानात्मक जागरूकता के क्षेत्र में उसकी भावना विचरण करती थी। दृष्टि रोमैण्टिक होने मात्र से भावना का ज्ञानात्मक आधार कमज़ोर नहीं होता। ज्ञानात्मक आधार कमज़ोर तब होता है जब कवि समाज को प्राप्त अद्यतन ज्ञान की उपेक्षा कर अद्यतन ज्ञान-द्वारा सम्प्रेरित भावनाओं से दूर हटकर केवल अपने ऐकान्तिक निविड़ लोक में ही विचरण करता है। ज्ञान का अर्थ केवल वैज्ञानिक उपलब्धियों का बोध ही नहीं है, वरन् समाज की उत्थानशील तथा ह्रासोन्मुख शक्तियों का बोध भी है। शैले के काव्य का सौन्दर्य उस मनोभूमिका से उत्पन्न हुआ है जो अपने युग में विकासमान उत्थानशील प्रवृत्तियों से परिपक्व हुई है। शैले को ज्ञान ने स्वप्न दिया, स्वप्न ने भावना दी। उसका समस्त साहित्य इस मनोभूमिका से अनुरंजित है। शैले के काव्य की कुहरिलता के कारणों के सम्बन्ध में मैं पहले ही कह चुका हूँ। वास्तविकता यह है कि तुलनात्मक दृष्टि से शैले बहुत ही जागरूक कवि था। वह अपने ज़माने की उत्थानशील मानवतावादी शक्तियों से आध्यात्मिक सम्बन्ध अनुभव करता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। कला के क्षेत्र में भी वह इतना अधिक जागरूक था कि वह अपने युग के मनोहर स्पन्दनों को अपने काव्य में अपने स्वप्नों के माध्यम से व्यक्त कर सका। किन्तु हम अन्य रौमैण्टिक लेखकों और कवियों को लें। उनमें से कइयों में हमें छद्म मनोवैज्ञानिकता का भी एक बहुत बड़ा व्यापार होता है। हिन्दी के रोमैण्टिक कवियों में ऐसी छद्म भावनाएँ बहुत देखने को मिलेंगी। वह छद्म मनोवैज्ञानिकता एक विशेष प्रकार की अभिरुचि से उत्पन्न होती है और उस अभिरुचि को वह दृढ़ करती है। अभिरुचि स्वयं इस कपटजाल को जन्म भी देती है।" दोष निरीक्षक, गुण दोष विवेचक

"अभिरुचि के साथ-साथ कई प्रकार के सेन्सर्स लगे रहते हैं। लेखक को अनेक प्रकार के सेन्सर्स यानी गहरे अन्तर्निषेधों का सामना करना पड़ता है। कुछ अन्तर्निषेध ऐसे होते हैं जो उसके काव्यसम्बन्धी यथार्थ की संवेदनाओं को भी काटकर फेंक देते हैं। काव्य का जो वास्तविक तत्त्व है जिसके कारण और जिसके द्वारा सौन्दर्य प्रकट होता है, उसीसे पता चल जाता है कि लेखक छद्म भावनाओं का व्यापार कर रहा है या क्या!"

यशराज कहता गया, "ये अन्तर्निषेध उसकी बहुत-सी अच्छी और सच्ची भावनाओं के स्रोत को भी सुखा देते हैं। फलतः जो काव्य प्रसूत होता है वह जाली होता है। हिन्दी में जाली कविताओं की कमी नहीं। कभी-कभी ऐसा जाली साहित्य भी कुछ परम्परागत गुण व्यक्त करता आया है। कवि के अभ्यास-वश काव्य में लालित्य आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं। जिसके फलस्वरूप कुछ लोग उन्हें साहित्य की अमूल्य निधि में जमा कर देते हैं।" यशराज आगे कहता गया, "ऐसे काव्य में प्रकट भावनाएँ जाली होने के कारण बहुधा अप्राकृतिक भी हो उठती हैं। कविता का धर्म है—अपनी प्रकृति से और काव्य के वस्तुतत्त्व की प्रकृति से एकाकार होना। व्यक्तिगत ईमानदारी का यह बहुत बड़ा तक़ाज़ा है कि लेखक निर्भीकतापूर्वक अपने अन्तर्निषेधों को सुधारे, उनका सामना करे। साथ ही, वह अपनी प्रकृति में और वस्तु की प्रकृति में प्रवेश करे। इस अन्तः प्रवेश के रास्ते में जो भी सामने आता हो उसे ज़ोर से हटा दे। दूसरे शब्दों में, अपनी अन्तःप्रकृति और वस्तु की प्रकृति में प्रवेश करने के उद्देश्य से, काव्य-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धी अपनी अभिरुचि भी बदल डाले—वह अपना, अपने स्वयं का, लगातार संशोधन और सम्पादन करता जाये...।"

मैं एकदम बोल पड़ा, "ओ, हीअर आइ ऐग्री (यहाँ मैं तुमसे सहमत हूँ) !"

यशराज आगे कहता गया, "जो लेखक अपने हृदय को (तुम्हारे शब्दों में) निरन्तर संशोधित और सम्पादित नहीं करता है, उसका विकास रुक जाता है। यह संशोधन और सम्पादन, कवि की जीवन-दृष्टि के द्वारा ही सम्पन्न होना चाहिए, स्वांग रचने के लिए नहीं।"

यशराज बहुत ज्यादा बोल गया था। कभी-कभी मेरा ध्यान भी उचट जाता। फिर भी मैं एकाग्रतापूर्वक उसकी बात सुनने का प्रयत्न कर रहा था। यशराज कह रहा था, "कवि का यह धर्म है कि उसके दिल में जो नकारशील खटके हैं, जो अन्तर्निषेध हैं, उन्हें विवेकसंगत बनाया जाये। केवल विशेषाभिरुचि के वशीभूत होकर उन अन्तर्निषेधों का विकास न किया जाये। ध्यान रहे कि ये अन्तर्निषेध लेखक स्वयं अपने लेखन-कार्य के दौरान में विकसित करता है। उनका विकास किस प्रकार होता है, यह विषय ही अलग है। महत्त्व की बात यह है कि अन्तर्निषेधों का विवेकसंगत विकास हो। व्यक्तिगत ईमानदारी का यह बहुत बड़ा तकाज़ा है। यदि काव्य के वस्तुतत्त्व की प्रकृति और कवि की प्रकृति दोनों का समाहार करनेवाली कवि-दृष्टि ऐसी है जो जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है तो निःसन्देह उसका काव्य सारगर्भित और प्रभावशाली होगा। यदि उस कवि-दृष्टि का महत्त्व अत्यन्त सीमित है तो उस काव्य को हम भले ही सुन्दर कह लें, वह हमारे जीवन पर विशेष प्रभाव नहीं डाल सकता अर्थात् वह हमारे जीवन-विवेक को विकसित और पुष्ट नहीं कर सकता। ध्यान रखिए कि कवि-दृष्टि को मैं जीवन-दृष्टि के रूप में ही ले रहा हूँ।"

यहाँ यशराज की साँस खत्म हो गयी। यशराज की विवेचन-बुद्धि ने निःसन्देह मुझे बहुत प्रभावित किया। मेरे मन में विचारों का तांता-सा शुरू हो गया। यशराज को चुप देख मैंने भी अपना कुछ जोड़ना चाहा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने कहा, "यशराज, सुनो। अब मैं भी कुछ कहना चाहता हूँ। ध्यान से सुनना! भले ही काव्य-रचना हाथ में क़लम लेकर टेबल पर की जाती रही हो, किन्तु रचना की सच्ची मनोभूमिका काव्य-रचना के क्षणों के बाहर निरन्तर तैयार होती रहती है। यदि इस मनोभूमि की तैयारी के दौरान कवि सचमुच ईमानदार है, यानी वह अपनी जीवन-दृष्टि व्यापक और गहरी रखने का प्रयत्न करता है, तो उस काव्य-रचना से सम्बन्धित वह मनोभूमिका भी अधिकाधिक विशद और यथार्थ होती जायेगी। ऐसा मेरा खयाल है। इसलिए मैं यह कहता हूँ कि काव्य-रचना, एक परिणाम है किसी पूर्वगत प्रदीर्घ मनःप्रक्रिया का जो अलग-अलग समयों में बनती गयी और अपने तत्त्व एकत्र करती गयी है। काव्य-रचना में जो अनायासता उत्पन्न होती है वह केवल भाषा और छन्द के अभ्यास के फलस्वरूप ही उत्पन्न नहीं होती, वरन् काव्य-रचना की पूर्वगत मनोभूमिका की समृद्धि के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इसलिए व्यक्तिगत ईमानदारी का सम्बन्ध काव्य-सम्बन्धी मनोभूमिका से अधिक है। यदि यह मनोभूमिका आत्मपरक और वस्तुपरक अर्थात् उन दोनों से समन्वित जीवनपरक दृष्टि से तैयार की गयी है तो उस कवि का क्या कहना! वह निःसन्देह समृद्ध करती है! इस सतह पर मुख्य प्रश्न दृष्टि का है। मानवता के कवि की दृष्टि विश्वजनता के उद्देश्यों से एकाकार है, अर्थात् जब कवि की भावनाओं का ज्ञानात्मक आधार विस्तृत, व्यापक और अद्यतन है तो ऐसी स्थिति में उस कवि की दृष्टि ही उसके अन्तःकरण में एक वातावरण निर्माण करेगी। एक काव्यात्मक मनोभूमिका या वातावरण के बिना सत्काव्य सम्भव ही नहीं। सच तो यह है कि काव्य-साधना, या कलासाधना, काव्य-रचना या कला-प्रक्रिया के दौरान में ही सीमित नहीं होती। काव्य-साधना या कला-साधना का अधिकतर भाग, काव्य-रचना के क्षणों से बहुत बाहर होता है। इसलिए कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह ज्ञानात्मक आधार का अधिकाधिक विस्तार करे, ज्ञान-स्वप्न दे सके, स्वप्न-भावनाएँ उत्सर्जित कर सके। मानसिक प्रतिक्रिया का सम्पादन-संशोधन यदि उस स्वप्न द्वारा प्रस्तुत होता है तो निःसन्देह वह कल्याणकारी है। उस ज्ञानात्मक आधार पर ही मन अपने को सम्पादित और संशोधित करता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहेगा। कवि के अनुभूतिमय जीवनकाल में ही यह संशोधन-सम्पादन चलता रहेगा।"

"किन्तु जब काव्य-रचना एक सृजन-प्रक्रिया के रूप में चलती है उस समय यदि कृत्रिम रूप से संशोधन-सम्पादन चलता रहता है तो कवि पर अभिनेतृत्व और स्वांग का अभियोग-आरोप सही हो जायेगा। किन्तु यदि ज्ञानात्मक आधार पर विकसित जीवन-स्वप्न ही स्वयं मानसिक प्रतिक्रिया का संशोधन-सम्पादन करता रहे तो निःसन्देह वह काव्य-रचना के एक अत्यन्त स्वाभाविक अंग के रूप में ही प्रस्तुत होगा।"

यशराज ने कहा, "तो व्यक्तिगत ईमानदारी काहे में है ? ज्ञानात्मक आधार को विस्तृत से विस्तृत करने, उसे अत्यन्त व्यापक बनाने, उसके आधार पर जीवन-स्वप्न विकसित करने, जीवन-स्वप्न के अनुसार मानसिक प्रतिक्रियाओं को दिशा देने अर्थात् अपने ही अन्तःकरण का संशोधन-सम्पादन करने में ही व्यक्तिगत ईमानदारी परिलक्षित होगी। तुम्हारी बात भी सही है। काव्य-साधना, अधिकतर, काव्य-रचना के क्षेत्र के बाहर होती है। हाँ, यह बात सही है।"

वह मुझे देखकर मुसकराया। उसके स्मित में एक अजीब ही तृप्ति थी। जी हाँ, वह बेरोज़गार है। ग़रीब है, ठुकराया हुआ भी है, समाज में उसकी कोई इज्ज़त नहीं है। लेकिन वह निःस्पृह भी है। क्या वह सुकरात नहीं है ? मेरी माँ ने मुझे बताया था कि भगवान् भिखारियों का वेश लेकर अपाहिजों के रूप में भटकते हैं और परीक्षा लेते हैं। भगवान पर मेरी आस्था नहीं है लेकिन मनुष्य पर तो है। इतने में मुझे खयाल आया कि 'ज्ञानात्मक आधार' की परिभाषा होना आवश्यक है। मैंने यशराज से पूछा—

"ज्ञानात्मक आधार से तुम्हारा मतलब वैज्ञानिक जानकारी के अलावा भी कुछ है या नहीं ?"

वह हँस पड़ा। उसने कहा, "जीवन-जगत् का जो बोध है उसका व्यापक होना, पुष्ट होना, विश्व में ज्ञान का जो आज विकास स्तर प्राप्त है, उसको

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मसात् करना और उससे आगे बढ़ना आवश्यक है। भावना उसी क्षेत्र में सक्रिय होती है जो क्षेत्र वस्तुतः ज्ञानशक्ति द्वारा गृहीत हो। बोध यानी ज्ञान के क्षेत्र के भीतर ही भावना की पहुँच है, उसके बाहर नहीं। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारे जीवन का ज्ञानात्मक आधार व्यापक और विकसित हो। ज्ञान भी एक तरह का अनुभव है, या तो वह हमारा अनुभव है या दूसरों का। उससे निकलते हैं निष्कर्ष, उससे होता है जीवन-विवेक का विकास। यह विवेक ही एक स्वप्न देता है। यह स्वप्न परमावश्यक है। वह जीवन-स्वप्न है। वह आध्यात्मिक है, यौनिक भी।"

मैंने पूछा, "यौनिक का क्या अर्थ ?"

उसने कहा, "हम अपूर्व शब्दावली में बात करते हैं। लेकिन जीवन के जिस क्षेत्र की हम बात करें उसकी शब्दावली आना चाहिए। क्या लेखक के लिए परम आवश्यक नहीं है कि वह विश्व-जनता के अभ्युत्थान को देखे और समाज का उत्पीड़न करनेवाली शक्तियों से सचेत हो और उसके प्रति विद्रोह करनेवाली ताक़तों से सक्रिय सहानुभूति रखे। ज्ञानात्मक आधार के विकास में तो बातें भी सम्मिलित हैं। नहीं हैं क्या ?"

मैंने सिर्फ़ इतना ही कहा, "तुम तो मेरे बारे में जानते हो ! मेरा तो यह दृष्टिकोण बहुत पहले से रहा है और उसके लिए कुछ तकलीफ़ भी उठायी है।"

जब हमने एक दूसरे की आँखों में देखा तो पाया कि हम सचमुच एक-दूसरे के मित्र हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१० | मेरे राम का मुकुट भीग रहा है

विद्यानिवास मिश्र

महीनों से मन बेहद-बेहद उदास है। उदासी की कोई खास वजह नहीं, कुछ तबीयत ढीली, कुछ आस-पास के तनाव और कुछ उनसे टूटने का डर, खुले आकाश के नीचे भी खुलकर साँस लेने की जगह की कमी, जिस काम में लगकर मुक्ति पाना चाहता हूँ, उस काम से हजार बाधाएँ, कुछ ले-देकर उदासी के लिए इतनी बड़ी चीज नहीं बनती। फिर भी रात-रात नींद नहीं आती। दिन ऐसे बीतते हैं, जैसे भूतों के सपनों की एक रील पर दूसरी रील चढ़ा दी गयी हो और भूतों की आकृतियाँ और डरावनी हो गयी हों। इसलिए कभी-कभी तो बड़ी से बड़ी परेशानी करने वाली बात हो जाती है और कुछ भी परेशानी नहीं होती, उल्टे ऐसा लगता है जो हुआ, एक सहज क्रम में हुआ, न होना ही कुछ अटपटा होता और कभी-कभी बहुत मामूली-सी बात भी भयंकर चिन्ता का कारण बन जाती है।

अभी दो-तीन रात पहले मेरे एक साथी संगीत का कार्यक्रम सुनने के लिए नौ बजे रात गये, साथ में जाने के लिए मेरे एक चिरंजीव ने और मेरी एक मेहमान, महानगरीय वातावरण में पली कन्या ने अनुमति माँगी। शहरों की आजकल की असुरक्षित स्थिति का ध्यान करके इन दोनों को जाने तो नहीं देना चाहता था, पर लड़कों का मन भी तो रखना होता है, कह दिया, एक-डेढ़ घण्टे सुनकर चले आना।

रात के बारह बजे। लोग नहीं लौटे। गृहिणी बहुत उद्विग्न हुई, झल्लानी, साथ में गये मित्र पर नाराज होने के लिए संकल्प बोलने लगी। इतने में जोर की बारिश आ गयी। छत से बिस्तर समेट कर कमरे में आया। गृहिणी को समझाया, बारिश थमेगी, आ जायेंगे संगीत में मन लग जाता है, तो उठने की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तबीयत नहीं होती, तुम सोओ, ऐसे बच्चे नहीं हैं। पत्नी किसी तरह शान्त होकर सो गयी, पर मैं अकुला उठा, बारिश निकल गयी ये लोग नहीं आये। बरामदे में कुर्सी लगाकर राह जोहने लगा। दूर कोई भी आहट होती, तो उदग्र होकर फाटक की ओर देखने लगता। रह-रहकर बिजली चमक जाती थी और सड़क दिप जाती थी। पर सामने की सड़क पर कोई रिक्शा नहीं, कोई चिरई का पूत नहीं। एकाएक कई दिनों मन में उमड़ती-घुमड़ती पंक्तियाँ गूँज गयीं—

'मोरे राम के भीजे मुकुटवा'
लछिमन के पटुकवा
मोरी सीता के भीजे सेनुरवा,
त राम घर लौटहिं"

(मेरे राम का मुकुट भीग रहा होगा, मेरे लखन का पटुका (दुपट्टा) भीग रहा होगा, मेरी सीता की माँग की सिंदूर भीग रहा होगा, मेरे राम घर लौट आते।)

बचपन में दादी-नानी जाँते पर यह गीत गातीं, मेरे घर से बाहर जाने पर विदेश में रहने पर वे यही गीत विह्वल होकर गातीं और लौटने पर कहतीं—मेरे लाल को कैसा बनवास मिला था। जब मुझे दादी-नानी की इस आकुलता पर हँसी आती, पर गीत का स्वर बड़ा मीठा लगता। हाँ, तब उसका दर्द नहीं छूता था। पर इस प्रतीक्षा में एकाएक उसका दर्द उस ढलती रात में उभर आया और सोचने लगा, आने वाली पीढ़ी पिछली पीढ़ी की ममता की पीड़ा नहीं समझ पाती और पिछली पीढ़ी अपनी संतान के संभावित संकट की कल्पना मात्र से उद्विग्न हो जाती है। मन में यह प्रतीति ही नहीं होती कि अब संतान समर्थ है, बड़ा-से-बड़ा संकट झेल लेगी। बार-बार मन को समझाने की कोशिश करता, लड़की दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कालेज में पढ़ाती है, लड़का संकट-बोध की कविता लिखता है, पर लड़की का खयाल आते ही दुश्चिंता होती, गली में जाने कैसे तत्त्व रहते हैं। लौटते समय कहीं कुछ हो न गया हो और अपने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीतर अनायास अपराधी होने का भाव जाग जाता, मुझे रोकना चाहिए था या कोई व्यवस्था करनी चाहिये थी, परायी लड़की (और लड़की तो हर एक परायी होती है, धोबी की मुटरी की तरह घाट पर खुले आकाश में कितने दिन फहरायेगी, अन्त में उसे गृहिणी बनने जाना ही है) घर आयी, कहीं कुछ हो न जाए।

× × ×

मन फिर घूम गया कौशल्या की ओर, लाखों-करोड़ों कौशल्याओं की ओर, और लाखों-करोड़ों कौशल्याओं के द्वारा मुखरित एक अनाम-अरूप कौशल्या की ओर, इन सब के राम वन में निर्वासित हैं, पर क्या बात है कि मुकुट अभी भी उनके माथे पर बँधा है और उसी के भीगने की इतनी चिन्ता है ? क्या बात है कि आज भी काशी की रामलीला आरम्भ होने के पूर्व एक निश्चित मुहूर्त में मुकुट की ही पूजा सबसे पहले की जाती है ? क्या बात है कि तुलसीदास ने 'कानन' को 'सत अवध समाना' कहा और चित्रकूट में ही पहुँचने पर उन्हें 'कवि की कुटिल कुचाल' दीख पड़ी ? क्या बात है कि आज भी वनवासी धनुर्धर राम ही लोकमानस के राजा राम बने हुए हैं ? कहीं-न-कहीं इन सबके बीच एक संगति होनी चाहिए।

अभिषेक की बात चली, मन में अभिषेक हो गया और मन में राम के साथ राम का मुकुट प्रतिष्ठित हो गया। मन में प्रतिष्ठित हुआ, इसलिए राम ने राजकीय वेश उतारा, राजकीय रथ से उतरे, राजकीय भोग का परिहार, किया, पर मुकुट तो लोगों के मन में था, कौशल्या के मातृ-स्नेह में था, वह कैसे उतरता, वह मस्तक पर विराजमान रहा और राम भीगे तो भीगे, मुकुट न भीगने पाये, इसकी चिन्ता बनी रही। राजा राम के साथ उनके अंगरक्षक लक्ष्मण का कमर-बन्द दुपट्टा भी (प्रहरी की जागरूकता का उपलक्षण) न भीगने पाये और अखण्ड सौभाग्यवती सीता की माँग का सिन्दूर न भीगने पाये, सीता भले ही भीग जायँ। राम तो वन से लौट आये, सीता को लक्ष्मण फिर निर्वासित कर आये, पर लोक-मानस में राम की वन-यात्रा अभी नहीं रुकी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुकुट, दुपट्टे और सिंदूर के भींगने की आशंका अभी भी साल रही है। कितनी अयोध्यायें बसीं, उजड़ीं, पर निर्वासित राम की असली राजधानी, जंगल का रास्ता अपने काँटों-कुशों, कंकड़ों-पत्थरों की वैसी ही ताजा चुभन लिए हुए बर-करार है, क्योंकि जिनका आसरा साधारण गँवार आदमी भी लगा सकता है, वे राम तो सदा निर्वासित ही रहेंगे और उनके राजपाट को सँभालने वाले भरत अयोध्या के समीप रहते हुए भी उनसे भी अधिक निर्वासित रहेंगे, निर्वासित ही नहीं, बल्कि एक कालकोठरी में वन्द जलावनी की तरह दिन वितायेंगे।

× × ×

सोचते-सोचते लगा कि इस देश की ही नहीं, पूरे विश्व की एक कौशल्या है, जो हर बारिश में विसूर रही है—'मोरे राम के भीजै मुकुटवा' (मेरे राम का मुकुट भीग रहा होगा) मेरी संतान, ऐश्वर्य की अधिकारिणी संतान वन में घूम रही है, उसका मुकुट, उसका ऐश्वर्य भीग रहा है, मेरे राम कब घर लौटेंगे, मेरे राम के सेवक का दुपट्टा भीग रहा है, पहरुए का कमरवन्द भीग रहा है, उसका जागरण भीग रहा है, मेरे राम की सहचारिणी सीता का सिन्दूर भीग रहा है, उसका अखण्ड सौभाग्य भीग रहा है, मैं कैसे धीरज धरूँ? मनुष्य की इस सनातन नियति से एकदम आतंकित हो उठा, ऐश्वर्य और निर्वासन दोनों साथ-साथ चलते हैं। जिसे ऐश्वर्य सौंपा जाने को है, उसको निर्वासन पहले से बदा है। जिन लोगों के बीच रहता हूँ, वे सभी मंगल नाना के नाती हैं, वे मुद मंगल, में ही रहना चाहते हैं, मेरे जैसे आदमी को वे निराशावादी समझकर बिरादरी से बाहर ही रखते हैं, डर लगता रहता है कि कहीं उड़कर उन्हें भी दुख न लग जाए, पर मैं अशेष मंगलाकांक्षाओं के पीछे से झाँकती हुई दुर्निवार शंकाकुल आँखों में झाँकता हूँ तो मंगल का सारा उत्साह फीका पड़ जाता है और बंदनवार न दिखकर बटोरी हुई रस्सी शकल में कुंडली मारे नागिन दिखती है, मंगलघट औंधाई हुई अधफूटी गहरी दिखता है, उत्सव की रोशनी का तामझाम धुओं की गाँठों का अंबार दिखता है और मंगल-वाद्य डेरा उखाड़नेवाले अंतिम कारबरदार की उसाँस में बजकर एक बारगी बन्द हो जाता है :

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लागति अवधि भयावह भारी,
मानहु कालराति अँधियारी।
घोर जन्तु सम पुर नरनारी,
डरपहिं एकहि एक निहारी।
घर मसान परिजन जनु भूता,
सुत हित मीत मनहु जमदूता।
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं,
सरित सरोवर देखि न जाहीं।

कैसे मंगलमय प्रभात की कल्पना थी और कैसी अँधेरी कालरात्रि आ गयी है ? एक दूसरे को देखने से डर लगता है। घर-मसान हो गया है, अपने ही लोग भूत-प्रेत बन गये हैं, पेड़ सूख गये हैं, लताएँ कुम्हला गयी हैं। नदियों और सरोवरों को देखना भी दुस्सह हो गया है। केवल इसलिए कि जिसका ऐश्वर्य से अभिषेक हो रहा था, वह निर्वासित हो गया। उत्कर्ष की ओर उन्मुख समष्टि का चैतन्य अपने ही घर से बाहर कर दिया गया, उत्कर्ष की मनुष्य की उर्ध्वोन्मुख चेतना की यही कीमत सनातन काल से अदा की जाती रही है। इसीलिए जब कीमत अदा कर ही दी गयी तो उत्कर्ष कम-से-कम सुरक्षित रहे, यह चिन्ता स्वाभाविक हो जाती है। राम भीगे तो भीगे, राम के उत्कर्ष की कल्पना न भीगे, वह हर बारिश में हर दुर्दिन में सुरक्षित रहे। नर के रूप में लीला करने वाले नारायण निर्वासन की व्यवस्था झेलें, पर नर रूप में उनकी ईश्वरता का बोध दमकता रहे, पानी की बूंदों की झालर में उसकी दीप्ति छिपने न पाये। उस नारायण की सुख-सेज बने अनन्त के अवतार लक्ष्मण भले ही भीगते रहें, उनका दुपट्टा, उनका अहर्निश जागर न भीगे, शेषी नारायण के ऐश्वर्य का गौरव अनन्त शेष के जागर-संकल्प से ही सुरक्षित हो सकेगा और इन दोनों का गौरव जगज्जननी आद्याशक्ति के अखण्ड सौभाग्य, सीमन्त-सिन्दूर से रक्षित हो सकेगा, उस शक्ति का एकनिष्ठ प्रेम पाकर राम का मुकुट है, क्योंकि राम का निर्वासन वस्तुतः सीता का दुहरा निर्वासन है। राम तो लौटकर राजा होते हैं, पर रानी होते ही सीता राम द्वारा वन में निर्वासित कर दी जाती है। राम के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ लक्ष्मण है, सीता हैं, सीता•वन्य पशुओं से घिरी हुई विजन में सोचती है— प्रसव की पीड़ा हो रही है, कौन इस वेला में सहारा देगा, कौन प्रसव के समय प्रकाश दिखलायेगा, कौन जन्म के गीत गायेगा ?

कोई गीत नहीं गाता। सीता जंगल की सूखी लकड़ी बीनती हैं, जलाकर अँजोर करती हैं और जुड़वाँ बच्चों का मुँह निहारती हैं। दूध की तरह अपमान की ज्वाला में चित्त कूद पड़ने के लिए उफनता है, और बच्चों की प्यारी और मासूम सूरत देखते ही उस पर पानी के छीटे पड़ जाते हैं, उफान दब जाता है। पर इस निर्वासन में भी सीता का सौभाग्य अखण्डित है, वह राम के मुकुट को तब भी प्रमाणित करता है, मुकुटधारी राम को निर्वासन से भी बड़ी व्यथा देता है और एक बार और अयोध्या जंगल बन जाती है, स्नेह की रसधार रेत बन जाती है सब कुछ उलट-पुलट जाता है, भवभूति के शब्दों में पहचान की बस एक निशानी बच रहती है, दूर ऊँचे खड़े तटस्थ पहाड़, राजमुकुट में जड़े हीरों की चमक के सैकड़ों शिखर, एकदम कठोर, तीखे और निर्मम—

पुरा यत्र स्त्रोत, पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्
बहोः कालाद् दृष्टं ह्यपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धि द्रढ़यति।

राम का मुकुट इतना भारी हो उठता है कि राम उस बोझ से कराह उठते हैं और इस वेदना के चीत्कार में सीता के माथे का सिन्दूर और दमक उठता है, सीता का वर्चस्व और प्रखर हो उठता है।

× × ×

कुर्सी पर पड़े-पड़े यह सब सोचते-सोचते चार बजने को आये, इतने में दरवाजे पर हल्की-सी दस्तक पड़ी, चिरंजीव निचली मंजिल से ऊपर नहीं चढ़े, सहमी हुई कृष्णा (मेरी मेहमान लड़की) बोली, दरवाजा खोलिए। आँखों में इतनी कातरता कि कुछ कहते नहीं बना, सिर्फ इतना कहा कि तुम लोगों को इसका क्या अन्दाज होगा कि हम कितने परेशान रहे हैं। भोजन-दूध धरा रह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया, किसी ने भी छुआ नहीं, मुंह ढाँपकर सोने का बहाना शुरू हुआ, मैं भी स्वस्ति की साँस लेकर बिस्तर पर पड़ा, पर अर्धचेतन अवस्था में फिर जहाँ खोया हुआ, था, वहीं लौट गया। अपने लड़के घर लौट आये बारिश से नहीं, संगीत से भीग कर, मेरी दादी-नानी के गीतों के राम, लखन और सीता अभी भी वन-वन भीग रहे हैं। तेज बारिश में पेड़ की छाया और दुखद हो जाती है, पेड़ की हर पत्ती से टपटप बूंदें पड़ने लगती हैं, तने पर टिकें तो उसकी हर नस-नस से आप्लावित होकर पीठ गलाने लगती है, जाने कब से मेरे राम भीग रहे हैं और बादल हैं कि मूसलाधार ढरकाये चले जा रहे हैं, इतने में मन में एक चोर धीरे-से फुसफुसाता, राम तुम्हारे कब से हुए, तुम, जिसकी बुनावट पहचान में नहीं आती, जिसके व्यक्तित्व के ताने-बाने तार-तार होकर अलग हो गये हैं, तुम्हारे कहे जाने वाले कोई हो भी सकते हैं कि वह तुम कह रहे हो, मेरे राम! और चोर की बात सच लगती है, मन कितना बटा हुआ है, मनचाही और अनचाही दोनों तरह की हजार चीजों में। दूसरे कुछ पतियायें भी, पर अपने ही भीतर परतीति नहीं होती कि मैं किसी का हूँ या कोई मेरा है। पर दूसरी ओर यह भी सोचता हूँ कि क्या बार-बार विचित्र-से अनमनेपन में अकारण चिन्ता किसी के लिए होती है, वह चिन्ता क्या पराये के लिए होती है, वह क्या कुछ भी अपना नहीं है? फिर इस अनमनेपन में ही क्या राम अपनाने के लिए हाथ नहीं बढ़ाते आये हैं, क्या न-कुछ होना और न-कुछ बनना ही अपनाने की उनकी बढ़ी हुई शर्तें नहीं है?

तार टूट जाता है. 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, यह भीतर से कहाँ पाऊँ? अपनी उदासी से ऐसा चिपकाव अपने सँकरे-से दर्द से ऐसा रिश्ता, राम को अपना कहने के लिए केवल उनके लिए भरा हुआ हृदय कहाँ पाऊँ? मैं शब्दों के घने ज़ंगलों हिरा गया हूँ। जानता हूँ, इन्हीं जंगलों के आस-पास किसी टेकड़ी पर राम की पर्णकुटी है, पर इन उलझाने वाले शब्दों के अलावा मेरे पास कोई राह नहीं। शायद सामने उपस्थित अपने ही मनोराज्य के युव-राज, अपने बचे-खुचे स्नेह के पात्र, अपने भविष्यत् के संकट की चिन्ता में राम के निर्वासन का जो ध्यान आ जाता है, उनसे भी अधिक एक बिजली से जग-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मगाते शहर में एक पढ़ी-लिखी चन्द दिनों की मेहमान लड़की के एक रात कुछ देर से लौटने पर अकारण चिन्ता हो जाती है। उसमें सीता का खयाल आ जाता है, वह राम के मुकुट या सीता के सिंदूर के भीगने की आशंका से जोड़ न जोड़े, आज की दरिद्र अर्थहीन, उदासी को कुछ ऐसा अर्थ नहीं दे देता, जिससे जिंदगी ऊब से कुछ उबर सके।

और इतने में पूरब से हल्की उजास आती है और शहर के इस शोर-भरे बियाबान में चक्की के स्वर के साथ चढ़ती-उतरती जंतसार-गीति हल्की-सी सिहरन पैदा कर जाती है। 'मेरे राम के भीजै मुकुटवा' और अमचुर की तरह विश्वविद्यालयी जीवन की नीरसता में सूखा मन कुछ जरूर ऊपरी सतह पर ही सही भीगता नहीं, तो कुछ नम तो जरूर ही हो जाता है, और महीनों की उमड़ी-घुमड़ी उदासी बरसने-बरसने को आ जाती है। बरस न पाये, यह अलग बात है (कुछ भीतर आप हो, तब न बरसे), पर बरसने का भाव जिस ओर से आ रहा है, उधर राह होनी चाहिए। इतनी असंख्य कौशल्याओं के कंठ में बसी हुई जो एक अरूप ध्वनिमयी कौशल्या है, अपनी सृष्टि के संकट में उसके सतत् उत्कर्ष के लिए आकुल, उस कौशल्या की ओर, उस मानवीय संवेदना की ओर ही कहीं राह है, पाँस के नीचे दबी हुई। पर उस पाँस की महिमा अपरंपार है, उसे तो आज वन्य पशुओं का राजकीय संरक्षित क्षेत्र बनाया जा रहा है, नीचे ढकी हुई राह तो सैलानियों के घूमने के लिए, वन्य पशुओं के प्रदर्शन के लिए, फोटो खींचने वालों की चमकती छवि-यात्राओं के लिए बहुत ही रमणीक स्थली बनायी जा रही है। उस राह पर तुलसी और उनके मानस के नाम पर बड़े-बड़े तमाशे होंगे, फुलझड़ियाँ दगेंगी, सैर-सपाटे होंगे, पर वह राह ढँकी ही रह जायेगी, केवल चक्की का स्वर, श्रम का स्वर ढलती रात में, भीगती रात में अनसोये वात्सल्य का स्वर राह तलाशता रहेगा—किस ओर राम मुड़े होंगे, बारिश से बचने के लिए? किस ओर? बता दो सखी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११ | मन का दर्पण बनाम कुछ न होने का कुछ

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

प्रिय भाई,

आपने समय की जो बन्दिश बाँधी है, वह टूटने को आयी और मैं हूँ कि वादा करके भी अपनी कहानियों की रचना-प्रक्रिया पर कोई टिप्पणी लिख न पाया। ऐसा नहीं कि मैंने जान-बूझकर इस काम में ढिलाई की। बल्कि अब तो यही कि सोचने को बहुत कोशिश की, और हर कहानी के साथ लिपटी स्मृतियों को, उसके सृजन के दिनों की मनःस्थिति को, और उन सबके साथ कागज पर कहानी शुरू होने के पहले शीर्षक के पास गोदे-टाँके चित्रों को कुरेदने का प्रयत्न किया है कि कुछ भी तरतीब के साथ विचारात्मक ढंग से कहना मुश्किल लगता है। मेरी यह निहायत बुरी आदत है कि मैं ज़रा-सा मूड आते ही कहानी लिखने का संकल्प करके बैठ जाता हूँ और तीन-चार सतरें लिखकर, अन्तिम सतर को प्रायः अधूरी ही छोड़कर, हाशिये पर या पन्ने के ऊपर खाली जगह पर आड़ी-तिरछी, बिन्दुओं भरी या लहरिया किस्म की सैकड़ों रेखाएं खींचकर गौर से देखता हूँ कि इनमें कुछ उभर तो नहीं रहा है। मसलन कोई चेहरा, कोई मकान, कोई खिड़की, कोई पक्षी या फिर और कुछ नहीं, तो कोई कटी पतंग, कोई खाली कनस्तर या कोई फूला गुब्बारा ही सही। मैं सोचता हूँ कि मेरे इन चित्रों को कहीं किसी फ्रायडीय मानस-पुत्र ने देखा, तो क्या कहेगा—शायद सेजोफ्रेनिया यानी मनोबल का ह्रास। किन्तु मुझे याद है कि एक-दो बार ऐसा करते, मेरे अबोध पुत्र नरेन्द्र ने पास आकर टोका था 'क्यों बाबूजी, हिरना बना रहे हैं न?'' मेरी कलम रुक गयी थी और मैं उसकी ओर अजीब ढंग से ताकता रह गया था। बड़ा रोब जमाते हुए, मैंने घर वालों को समझाया था कि आज मैं कुछ काफी महत्त्वपूर्ण काम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के लिए एकान्त में बैठा हूँ, शोर नहीं होना चाहिए—और अब यह छोकरा, मेरी सारी कारगुजारी पर हेडिंग मार रहा है कि मैं हिरना बना रहा हूँ ! हाँ-हाँ, हिरना बना रहा हूँ, भाग यहाँ से।' मैंने डाँटा और वह चला गया। वह चला गया, तो मैंने अपनी चित्रावली पर पुनः नजर डाली। आपसे सच कहता हूँ, बहुत गौर करने पर भी मुझे कहीं हिरना नजर नहीं आया। दो रेखाएं समानान्तर उचककर ऊपर जरूर गयी थीं, पर वे हिरने की सींग से शायद ही समता रखती हों। दो रेखाएं थोड़ा 'कर्व' लेती नीचे बाईं ओर और दो दाईं ओर खिंची थी, ये पैर जैसा लग सकती थीं। पर यह आकृति हिरना की कतई नहीं लगती थी। पर ज्यों-ज्यों मैं उस शक्ल को देखता रहा, मुझे जाने क्यों लगने लगा कि इधर-उधर कुछ घिस-घास करने से यह हिरना नहीं, तो हिरना जैसा तो जरूर हो जाएगा। और मैंने कुछ घिस-घास की भी। और यह सब कुछ मिल-मिलाकर एक भोंडे किस्म के हिरना जैसा हो भी गया। मैंने नरेन्द्र को बुलाकर दिखाया, तो उसने दाद दी और कहा कि उसने अपनी ड्राइंग कापी में जो हिरना बनाया है, उतना अच्छा नहीं है। वह विरक्त होकर चला गया और मैं काफी उदास हो गया। इसलिए नहीं कि उसे मेरा बनाया हिरना पसन्द नहीं आया, बल्कि इसलिए कि हिरना बनाने के पहलें, जो मैंने कुछ नहीं-सा कुछ बनाया था; वह बिल्कुल नष्ट हो गया था। सो भाई, रचना-प्रक्रिया के बारे में सचेत होने के अर्थ में यह घिस-घास ही मानता हूँ जिसके चलते लोगों को अपने मन माफिक आकृति भले ही दिख जाए और वे दाद भी दे दें। सृजक को तो यह पीड़ा झेलनी ही पड़ती है कि उसके "कुछ न होने का कुछ" इस संचेतना की मुट्ठी से फिसल ही गया, जिसे वह खूब चाहकर भी पुनः कभी पा नहीं सकता।

यह "कुछ न होने का कुछ" मेरी दृष्टि से लेखक के मन से संबंधित है। और मन कोई प्याज़ की ग्रंथि तो नहीं कि उसके छिलके पर उतार दिए जाएँ और इस खूबी के साथ कि सारा खेल-तमाशा दिखाकर उन्हें एक में समोकर साबुत भी रख दिया जाए। मन प्रायः सबका एक ही जाति का है, किन्तु कलाकार का मन, सृजन की शक्ति और प्रक्रिया के बारे में सचेत होने के कारण कुछ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्न हो जाता है। क्रिया की समस्याएँ, वस्तुओं के स्वभाव और समय का छन्द मन की जागरूकता के अलग-अलग पहलू हैं। वह कभी इस पहलू में पहलू वदलता है, कभी दूसरे में। कहानी का स्वरूप यद्यपि सभी पहलुओं के समवाय से उत्पन्न होता है; किन्तु यह आवश्यक नहीं कि मन में यह समवाय, सृजन के पहले से ही निश्चित हो चुका हो। कभी क्रिया खींचती है, कभी वस्तु और कभी समय। इसे और ज्यादा स्पष्ट करके कहूँ तो यह कि खुद अपनी क्रिया कर्म का समानान्तर जीवन जीने वाले किसी व्यक्ति के कर्म हमें आकृष्ट करते हैं। किन्तु कर्म या घटनाएं वस्तुओं की तरह हमारे सामने अपना सही अर्थ नहीं खोलती। इन कर्मों पर मन में बार-बार मंथन चलता है (यह लेखकीय) मन की विशेषता है कि वह अपने और दूसरों के कर्मों को वस्तुओं की तरह उन पर अर्थों का 'लेवुल' लगाकर खानों में नहीं रख लेता, बल्कि उनसे बार-बार टकराकर उनके भीतर के छिपे अर्थ को खोजने या उन तक पहुँचने की कोशिश करता है। कर्मों को भी समाज अपनी आदत के मुताविक विभिन्न खानों में बाँटकर पहचानने की कोशिश करता है। उदाहरण के लिए समाज में नेकी, वदी, कायरता, क्रूरता, अत्याचार, वेईमानी पाप, पुण्य आदि के मोटे-मोटे रूप तैशुदा है। कथा-लेखक के मन की गठन और आदत धीरे-धीरे कुछ इस कदर की बन जाती है कि वह इन तैशुदा खानों में बटे कर्मों को तैशुदा अर्थ नहीं देता। वह उनके चमकीले और स्पष्टाभास से प्रतीत होते आवरण को चीरकर भीतरी अर्थ तक पहुँचना चाहता है। ये कर्म कितने परिचित, पर कितने गूढ़ होते हैं, "नन्हों", कहानी की चूड़ियों की तरह "नन्हों, जब इन्हें पहनना नहीं चाहती थी, तो ये जबरदस्ती उसके हाथ में पिन्हायी गईं और जब, उन्हें उतारना नहीं चाहती, तो लोगों ने जबरदस्ती हाथों से उतरवा दिया।" कर्मों के सही अर्थ के बारे में इकाई और समाज के बीच एक तरह की कशमकश हमेशा चलती रहती है। इसका मतलब यह नहीं कि कथाकार, व्यक्ति और समाज के बीच व्याप्त संघर्ष को तीव्र करना चाहता है। सच तो यह है कि इकाई और समाज की, कर्मों के बारे में सोचने की प्रक्रिया जुदा-जुदा होती है। समाज, आवरणमूलक सत्त्वों या मूल्यों का हिमायती होता है, जब कि इकाई अपने भोगे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए अनुभव और कमाये हुए सत्य को चाहकर भी भुला नहीं सकती। यह संघर्ष एक प्रकार से दोनों के एक-दूसरे के प्रति 'फिट बैठने का प्रयत्न' का ही रूप होता है।

मैंने पहली कहानी किस मूड या प्रेरणा या मनःस्थिति में लिखी, यह तो आज स्पष्ट नहीं है, पर मैं इतना अवश्य जानता हूँ कि इसमें इकाई के निजी अनुभव की प्रमुखता थी। 'दादी मा' कहानी को अब धीरे-धीरे उसका ऐतिहासिक प्राप्य मिल रहा है। यानी अब मेरे नातिप्रीति आलोचक भी यह कहने लगे हैं कि नई हिन्दी की शुरूआत 'दादी माँ' से हुई। देखिये, 'माया' जनवरी १९६५, नामवर सिंह का निबन्ध। किन्तु अब भी 'दादी माँ' की विशेषताएँ स्पष्ट करने का प्रयत्न ऊपरी आवरण तक ही सीमित है। प्रेमचन्द की ग्राम-कथाएँ वर्गगत चरित्रों के सामाजिक खानों में बँटे कगारे के तैशुदा अर्थों को प्रधानता देती थीं। इसी कारण प्रेमचन्द सामाजिक यथार्थ के बाहरी रूप के सफल कथाकार हो सके। 'दादी माँ' ग्राम-जीवन की पहली कहानी थी, जिसमें निजी अनुभव और भोगे हुए, सत्य की व्यथा को व्यक्त किया गया था। कुछ लोग इसका संस्मरणात्मक होना कहानी का दोष मानते हैं, किन्तु निजी अनुभूति की प्रखरता और उसकी सही अभिव्यक्ति की माँग के कारण, इस कहानी का संस्मरणात्मक हो जाना स्वाभाविक है।

चरित्र और उनके कर्म इसी कारण मुझे बहुत-बहुत आकृष्ट करते रहे हैं। इधर विदेशी समीक्षाओं और उनकी प्रवृत्तियों के नकलची लोग 'चरित्र' शब्द में ही पुरानेपन की गंध खोजकर चरित्रों के खिलाफ अंट-शंट बकते रहे हैं। चरित्र, आज भी, आधुनिकतम लेखक के लिए भी, प्रबल चुनौती है। मानव पदार्थ, बाह्य और आभ्यन्तर, दोनों ही पहलुओं से हमारी सचेतनता और सृजन प्रक्रिया के लिए चुनौती है। मानव पदार्थ, सामान्य पदार्थ या वस्तुओं से बिलकुल भिन्न ढंग से हमारी बुद्धि के आयाम बनते हैं। हम किसी भी मनुष्य को उस रूप में नहीं समझ सकते, जिस रूप में हम मेज-कुर्सियों, किताब को समझते हैं। मनुष्य को सिर्फ एक ही प्रकार से अवगत किया जा सकता है, वह है उसकी सम्पूर्ण परिस्थितियों के बीच स्थिति का अवबोध! जड़ पदार्थ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनन्त रूपों में विभाज्य है। किसी कटे पन्ने को देखकर निश्चित किताब का, जहाँ से वह पन्ना लिया गया है, अवबोध सम्भव नहीं है, किन्तु मात्र सिर, हाथ, अँगुली, दाढ़ी या आँखें देखकर एक मानव-सत्य का बोध होता है कि ये मनुष्य शरीर के अवयव हैं। फिर व्यक्ति, उस प्रकार से हमारे अध्ययन का विषय बनने को तैयार भी नहीं होता, जैसे जड़ पदार्थ हो जाते हैं। मानव पदार्थ अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकारों से संबलित है। चूंकि मानव-सत्य हमेशा ही परिस्थितियों से आवेष्टित हैं, इसलिए चरित्र का तात्पर्य इन परिस्थितियों के सही रूपों का विश्लेषण है। और ये परिस्थितियाँ दूसरी ओर आबद्ध समय के छन्द से जुड़ी होने के कारण, परम्परा, आधुनिकता, समसामयिकता और दूसरे कालयुक्त आयामों से आबद्ध भी होती हैं। इसलिए चरित्रों का नाम सुनकर चौंक जाना या इनको केन्द्र में रखकर कहानी के गठन की बात करने की प्रक्रिया को पुरानापन मानना, बौद्धिक निर्बलता का सूचक है। मेरी अनेकानेक कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं। अगर मैं ईमानदारी से कहूँ तो यह कि मेरी पचास प्रतिशत से अधिक कहानियों की प्रेरणा में चरित्रों का योग है, यानी सृजन-प्रक्रिया की दृष्टि से मुझे परिस्थितियों से सम्बलित-आश्लेषित चरित्र पहले आकृष्ट करते हैं, बाकी चीजें बाद में। जगत् के चरित्र ज्यों के त्यों कहानी के अंग प्रायः नहीं बनते। रचना-प्रक्रिया के बीच कहानी के ध्वन्यर्थ की संचेतना इन चरित्रों को खण्डशः अनेक टुकड़ों में बाँटकर, पुनः नये ढंग से इनके संयोजन का प्रयत्न करती है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में कमाये अनुभवों के रासायनिक द्रव, चरित्र-खण्डों को एक निश्चित अर्थ को दृष्टि में रखकर जोड़ते रहते हैं। लेखक की सफलता इस बात में होती है कि वह अपने भीतर चारित्रिक स्थितियों और संघर्षों का तथा जीवन की वास्तविकता का ऐसा सूक्ष्म, सही और प्रामाणिक अनुभव रखे कि भिन्न-भिन्न समयों में उपलब्ध चरित्र-खण्डों को सही ढंग से जोड़ सके।

यह जोड़ाई एक जीवन चरित्र तो दे देगी, किन्तु यह चरित्र एक आइडिया बन जाए, एक सूक्ष्म कथ्य का रूप ले ले, इसके लिए कुछ और उच्च-स्तरीय चेतना की आवश्यकता होती है। जिसे दार्शनिक लहजे में 'प्री-रेफलेक्सिव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कान्निटो कहा जाता है। चरित्रों के बहुविध कर्मों के भीतर, समय के छन्द की सही प्रक्रिया को अनावश्यक कर्म परिपाटी से अलग करके, इस तरह से अपनी चेतना-प्रवाही धारा (स्ट्रीम आफ कांशसनेस) में बहाना कि चरित्र की अभिव्यक्ति एक निश्चित 'आइडिया' का रूप ले ले, यह बहुत कठिन और सूक्ष्म कथा-कर्म है। यह कथाकार के लिए तो चुनौती होती ही है, प्रबुद्ध पाठक के लिए भी। मेरी हिन्दी पाठकों से यह शिकायत रही है, या यों कहिए कि प्रकारान्तर से अपने प्रति शिकायत रही है कि लोग चरित्रों को तो पकड़ और समझ लेते हैं, किन्तु उनके जीवन के सम्बद्ध-असम्बद्ध कर्मों को क्यों इस ढंग से नियोजित किया गया है, अथवा इस नियोजन के भीतर से कोई ध्वन्यर्थक कथ्य उभरता है या नहीं, इसे समझने की बहुत कम कोशिश करते हैं।

इन सभी धारणाओं को अपनी शक्ति भर रूप देने के लिए मैंने ग्राम-जीवन से ही अधिकांश चरित्र चुने। यह मेरी विवशता इसलिए है, क्योंकि मैं इन चरित्रों के बाह्य और आभ्यन्तरिक रूपों को ज्यादा आसानी से समझता हूं। किन्तु एक कारण और भी रहा है: इकाई की प्रधानता वाले चरित्र, जन-धारा में नहीं, किनारों पर छोड़े हुए ही ज्यादा मिलते हैं। मैं अपनी एक कहानी की यहाँ व्याख्या करने चला हूं, यद्यपि यह मुझे पसन्द नहीं, पर रचना-प्रक्रिया पर बात करने पर भी सब-कुछ ढँपा-तोपा रह जाए, यह कब सम्भव है। कहानी है: 'धारा', जो 'नई कहानियाँ' में छपी थी। इसमें एक प्रमुख चरित्र है: तिउरा। गाँव से दूर, तक जंगली परती के छोर पर झोपड़ियों में रहने वाले एक आदिम संस्कृति के भग्नावशेष परिवार की लड़की। मुसहर, कंजड़ या ऐसी ही कुछ।

इस कहानी को 'मैं' कहता है, जो लेखकीय इकाई है, थोड़ी छद्म, थोड़ी खुली। पहली बार इस लड़की को देखते समय 'मैं' एक पेड़ के नीचे बैठा है, जिसकी बारिश-धुली जड़ों का स्तूप उघड़ा हुआ दीख रखा है: 'जमीन भी जाने कैसे-कैसे भेद छिपाए रहती है! इसे देखकर पहली बार यह ज्ञात हुआ कि पेड़ों की शाखें, जितनी लम्बी, चौड़ी, छितनार ऊपर होती है, उनकी जड़ें भी उतनी लम्बी-चौड़ी फैली नीचे होती है।' यह पंक्ति उस पेड़ के बारे में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जितनी मौजूं है, उससे कहीं अधिक आदमी के जीवन के बारे में, जिसकी परम्परा और आधुनिकता की जड़ें और शाखें प्रतिकूल दिशाओं में छाई हैं, फिर भी दोनों ही एक ही पेड़ का हिस्सा हैं। तभी 'मैं' उस परती को देखता है, उसके छोर पर स्थित झोपड़ी को, और लगता है। 'आवादी जैसे हल-फाल के साथ हमेशा इस परती को तोड़ने की कोशिश कर रही है, फिर भी पूरी तरह इस अपने जोत मिला न सकी। आवादी और जोत, यानी आधुनिक संस्कृति की धारा के बीच कुछ ऐसे द्वीप हैं, जो उसमें पूरी तरह घुल-मिल नहीं सके। यह संघर्ष जारी है। आदिम जीवन के संस्कारों को हमारी आधुनिक सभ्यता तोड़ रही है, पर ऐसे चरित्र हैं, जो पूरी तरह उस धारा में नहीं आए। ये धारा में आएं, मैं इसका पूरा समर्थक हूं। मैं आधुनिक जीवन की प्रगति और भविष्योन्मुखी महायात्रा में आस्था रखता हूँ। धारा में आस्था रखता हूँ। पर धारा में कूदने या बहा लिए जाने का दर्द भी समझना चाहता हूं। 'तिउरा' पास के कस्बे की एक आढत में काम करती है। साड़ियाँ, ब्लाउजें, आधुनिक जीवन के आकर्षण दिखाकर मुनीम उसे एक दूसरी दिशा में मोड़ता है। तिउरा ने ईमानदारी के साथ आधुनिक सभ्यता की दिशा में मुड़ने की कोशिश की। उसे गर्भवती होने पर मुनीम छोड़ देता है, और उसके माँ-बाप उसे घर से नहीं निकालते बल्कि परती की उस झोपड़ी को छोड़कर, और तिउरा को भी, वे चले जाते हैं। इस बीच 'मैं', जो एक पढ़ा-लिखा वेकार और उपेक्षित प्राणी था, नौकरी पा जाता है। मां-बाप खुश हैं। आधुनिक सभ्यता की इस नई उपलब्धि, यानी शहर में नौकरी पाने की खबर पर। पर 'मैं' सोचता हूं : 'नई जिन्दगी कौन-सी है, वह, जो मैं अभी-अभी खत्म कर चुका हूं, जहाँ मेरे लिए कोई सहारा न था ! स्पष्ट ही यह प्रश्न उन सबके लिए है, जो धारा में उत्साह से कूदे, पर न तो उस किनारे पहुँचे, जहाँ कोई सहारा मिले, न इस किनारे, जहाँ उनको 'पुराने' का ठिकाना था। धारा में कूदने वाला हर कोई पार ही तो नहीं लगता, और जो नहीं लगे, क्या उनकी जिन्दगी कम आधुनिक है ? कहानी चरित्र-प्रधान है। तिउरा का चरित्र ही मुख्य है, मगर यह चरित्र एक 'आइडिया' में बदल जाता है, जिसे आज का आलोचक या तो समझ नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाता, या फिर कोशिश नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि इन ग्रामीण चरित्रों में भला ऐसी क्या बात हो सकती है, जिस पर सोचा जाए। हिन्दी में कठ-मुल्लापन देइन्तहा है। कामू के चरित्रों के बारे में, जो अक्सर ग्रामीण, चरवाहे गँवई स्कूल के मास्टर आदि होते थे, क्योंकि उसने अल्जीरिया के अरब कबीलों को बहुत निकट से देखा था, यही आरोप लगाया गया था, और लगाया था सार्त्र ने। किन्तु कामू के साथ आत्मघाती पीड़ा नहीं थी कि उसकी रचनाएं आंचलिक खाने में डालकर रख दी गईं और उन्हें गम्भीरता से पढ़ने की कोशिश नहीं की गई। बहरहाल।

मेरी रचना-प्रक्रिया का दूसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु वस्तुओं के स्वभाव से सम्बद्ध है। अपने बाहर, और मानवीय अस्तित्व को छोड़कर, दूसरा जो कुछ भी है, सभी पदार्थ है, वस्तुएँ हैं। पदार्थ किसी वस्तु के लिए निश्चित पद का अर्थ ही तो है। इस कारण वस्तुओं के रूप में हमें जो कुछ प्राप्त है, वह नाम-रूप का क्रीड़ा-क्षेत्र है। वस्तुएँ इस निश्चित नाम और रूप से कुछ भिन्न हैं ? इस प्रश्न के विषय में कथाकार की जागरूकता परिस्थितियों और मनुष्य के कर्मों को समझने की सही दृष्टि देती है। जड़ और चेतन जगत् का यह विभाजन दैनन्दिन जीवन में कभी समस्या नहीं बनता, किन्तु मानव-मन की प्रक्रिया इनसे प्रभावित जरूर होती है। इसी कारण ऐसी स्थिति में, जब मन की दैनन्दिन गति बाधित होती है, अथवा कोई संकट या उद्वेग का क्षण आता है, वस्तुओं और मनुष्य के बीच कृत्रिम रूप में अनजाने स्थापित सम्बन्ध टूट जाते हैं अथवा बदल जाते हैं। यह स्थिति केवल दो प्रकार से आती है। एक तो असामान्य मनःस्थिति में, दूसरे अबोध अचेतनता में। इसे मैं उदाहरण देकर स्पष्ट करूँ :

"अँधेरी चादर से ज्यों-ज्यों उजास फूटने लगा, मुझे मेरा ही घर, आँगन बुहारी, गिलास-लोटे, बाल्टी, इधर-उधर गिरा हुआ पानी ? सभी सब कुछ ऐसे अपरिचित, मायूस, डरे-डरे से प्रतीत होने लगे।" (मुर्दा सराय) अपनी पत्नी की मृत्यु से आघातित परिस्थिति में मानव और जड़ पदार्थों के बीच का परिचय सूत्र कटा-सा प्रतीत होने लगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी ओर : "खैरा पीपल कभी न डोले" कहानी के अबोध बच्चे, उस पीपल को, जिसकी छाया में वे अनेक खेल रचाते थे, अचानक भूल गये।

"मैं तो इन छोकरों पर हैरान हूँ कि जो सुबह से शाम तक इन भले मानसों के चारों ओर हाथ में हाथ फँसाये चक्कर लगाया करते थे और जिनके दिलों की खुशियाँ, कबूतरों की तरह फड़फड़ाती हुई, पुरुषोत्तम काका या तुलसी बुढ़िया के कहकहों के अड्डों पर हमेशा मँडराया करती थीं, वे ही इन्हें इस तरह बिल्कुल कैसे भूल गये। कहीं ये इसी तरह खैरा पीपल को भी तो नहीं भूल जाएँगे ? सब ही छोकरे, एक दिन खैरा पीपल को बिल्कुल भूल गये।"

यह भूलना, एक तरह से मानव का वस्तुओं पर अधिरूढ़ होना है। मानव की प्रकृति है कि वह वस्तुओं को हमेशा अधिकृत करना चाहता है। कथाकार की जागरूकता इस बात में नहीं है कि वह मानव और पदार्थों के सम्बन्धों को स्वयं सिद्ध मानकर चले, बल्कि व्यक्तियों और पदार्थों के बीच आन्तरिक स्तर पर बनते-बिगड़ते सम्बन्धों के प्रति सतत जागरूक रहे।

वस्तुएँ मूल में नामरूप की मानवारोपित धारणाओं से रहित होकर, जिस स्थिति में रहती हैं, उसके प्रति सचेतनता हमारे कार्य को आसान बनाती है। कलाकार के साथ कठिनाई यह है कि वह जिस भाषा का प्रयोग करता है, वह भी व्यक्त होकर एक वस्तु बन जाती है! यानी, जो जीवित ब्रह्ममय शब्द, हमारे भीतर है, जिसमें किसी भी धारणा को हम व्यक्त करना चाहते हैं, जब नामरूपात्मक कलेवर लेता है, तो अपने-आप विनिमेय वस्तु का रूप ग्रहण कर लेता है। हमारी कठिनाई : "सुबह के बादल" कहानी के घूरेलाल की-सी है।

"ऐसे मौकों पर पंडित घूरेलाल का बुरा हाल हो जाता। वे लाख चाह-कर भी गुस्से से भरा वाक्य भी नहीं बोल सके। कितनी ही बार गुस्सा आता। ठायँ से कुछ कह जाने की वह बारहा कोशिश करते, पर हर बार अंगारे की तरह दहकते हुए लफ़्ज उनके मुँह के बाहर निकलते ही पिघले हुए लावे की शक्ल में कुड़मुड़ाकर रह जाते। अपनी इस असफल कोशिश के बाद वे हमेशा ही बेहद खामोश हो जाते।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंगारे की तरह जलती तेजोमय परावाक् मुख से बाहर आकर राख में बदल जाती है। तेज या ज्योति या दाह-शक्ति है, जो जड़-वस्तु से अलग है, पर राख तो जड़ पदार्थ से भिन्न नहीं है। दाह को राख में बदल जाने से रोकने के लिए कथाकार हजारों विधियों का उपयोग करता है। बिम्ब, इमेजेज़ प्रतीक, मिथक, उपमान आदि तरीके इसी प्रकार की विधियाँ हैं, किन्तु इन विधियों का घेरा भी "वस्तुओं के स्वभाव" को ठीक से समझकर ही पार किया जा सकता है। क्योंकि बिम्ब या प्रतीक या अन्य कोई प्रयोग, सूक्ष्म या स्थूल, पदार्थ अथवा वस्तुओं से ही निर्मित होते हैं। यह सही है कि इनके निर्माण में सृजक की ज्योतिवाही चेतना का भी संयोग होता है, इसी कारण इनकी आभा और रंग जागतिक पदार्थों से किंचित् भिन्न होते हैं। अर्थ का संयोजन भी आवरण मूलक तैशुदा खानों से भिन्न ढंग से किया जाता है। परन्तु कुल मिलाकर कथा की गठन-विधियाँ (डिवाइसेज़) वस्तु के अन्तर्गत ही परिगृहीत की जाएंगी। मेरी आरम्भिक कहानी के विषय में लोगों का आरोप था कि इनमें प्रकृति का चित्रण बहुत ज्यादा होता है। किन्तु वे चित्रण कभी भी "स्टिल फोटोग्रेफी" नहीं थे, उनमें वस्तुओं के स्वभाव और मानव-सम्बन्धों की स्थितियाँ स्पष्ट थीं। मैं मनुष्य और पदार्थ के बीच की "हारमनी" का कायल रहा हूँ और प्रकृति के विषय में उसकी भयानकता और निर्ममता के दार्शनिक दृष्टिकोणों को समझने-बूझने के बाद भी मेरी इस धारणा में परिवर्तन नहीं आया है। यह सही है कि कहीं-कहीं इन सम्बन्धों की मेरी व्याख्याओं में रोमैण्टिक आग्रह उभरा है, किन्तु जहाँ प्रकृति के प्रति चेतना का उद्दाम सम्पर्क होगा, वहाँ ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। मेरे इमेजेज़, प्रतीकों और मिथक अथवा लोककथात्मक अभिप्रायों को समझने के लिए मेरी इन धारणाओं का जानना जरूरी हो जाता है। मेरी रचना-प्रक्रिया में ऐसे तत्त्वों की इतनी व्याप्ति और विविधता है कि मैं बहुत संक्षेप में इसकी पूरी चर्चा नहीं कर पाऊँगा।

मनोवैज्ञानिक का कहना है कि लम्बे-लम्बे वाक्यों में अपनी बात व्यक्त करने वाले लेखक वे होते हैं, जो समय के बारे में बहुत स्पष्ट और अवगम्य धारणा रखते हैं। किन्तु लम्बी-लम्बी सांस लेने की प्रक्रिया को, समय के बारे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बहुत जागरूक होना मान लेना भी ठीक नहीं होगा। वाक्यों के गठन और निर्माण की मेरी प्रक्रिया, दोनों के बीच पड़ती है। यह मुझे अक्सर दोषपूर्ण लगती रही है।

उदाहरण के लिए :

ऐ छोकरे, सुनता भी है, जाने कब से बुला रहा हूँ, और तू है, तानसेन का दादा बना कि बस अलापचारी भरे जा रहा है, मुड़कर देखता तक नहीं। दीनू ने मुड़कर देखा, नकद दो दर्जन गालियाँ निकाल ली थीं, हलक तक, ताबड़तोड़ दाग देने के लिए, पर सामने डाकिये को खड़ा देख कर सहम गया।''

यह पूरा का पूरा एक वाक्य होता है। यद्यपि इसमें अनेक वाक्य और पूर्ण वाक्य इस तरह संयुक्त हैं कि सबकी इकाई अलग-अलग प्रतीत होती है। पंक्चुएशन के बारे में मैं कभी भी जागरूक नहीं रहा, जो समय को ठीक से अनुशासित करने का बिल्कुल आधुनिक तरीका है। मेरी दृष्टि हमेशा उस वक्तव्य के साथ ऐसी चिपकी रहती है, जो प्रायः अपने सही रूप में व्यक्त होने से कतराता है, कि अभिव्यक्ति के कृत-अंश पर ध्यान नहीं जाता। मेरे मित्र श्री जगदीश जी, भारतीय ज्ञानपीठ वाले, अक्सर डाँटते हैं : 'शिवजी, काश, तुम यदि एक बार अपने लेखन को दुहरा लेते— तो सच कहता हूँ, यह और भी निखर जाता।' उनकी शिकायत यह है कि मैं डॉट्स बहुत मारता हूँ। वैसे मेरी यह आदत इधर कम हुई है। पर मैं लाचार हूँ। मुझे हमेशा यह लगता है कि जिस ढंग और गति से मेरे दिमाग़ में भावों की भीड़ अकुला रही है, व्यक्त होने के लिए, उस ढंग और गति से मेरी लेखनी साथ नहीं दे पाती। इस शाखामृगीय प्रक्रिया में बीच के एकाध वाक्य या शब्द जरूर गोल हो जाते हैं। और लेखनी अपनी मजबूरी की शिनाख्त के रूप में लुप्त वाक्य या शब्द के लिए 'डॉट्स' छोड़ देती है। मेरी रचना-प्रक्रिया की यह बहुत बड़ी त्रुटि है। लेखनी चुप होती है, तो दस पंक्ति लिखकर घंटों चुप रहती है, कभी-कभी हफ़्तों और चलने लगी, तो इस गति से कि पन्ने के पन्ने रँगे जाते रहे और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांस लेने रुके, तो पाए कि तर्जनी ऊंगली बुरी तरह दुख रही है। शान्त, निरुद्धंलित, जिसे 'कोल्ड माइंड' कहते हैं, उस अवस्था में सोच-सोचकर लिखने की प्रक्रिया प्राय: मेरी नहीं रहती। बचपन में यही हाल दूसरे कामों के साथ भी था, और कभी हड़बड़ी में कुछ टूट-फूट जाता, तो पिता जी बिगड़ते। "कर्क लग्न में जन्म है न?' मैं कभी सोच नहीं पाया कि कर्क और जल के बारे उनके मन में आरोपजनक विचार क्या थे? पर उनके बार-बार टोकने का कुछ खास असर हुआ नहीं लगता।

एक बार यही चीज, कुछ इससे ज्यादा ईमानदारी के साथ, अपने एक मनोविज्ञान के प्राध्यापक मित्र से कही थी, तो वे बोले : जानते नहीं, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में इसे क्या कहते हैं : 'इट्स टु ब्रेक द बैरियर आव टाइम' यह समय सीमा के अतिक्रमण का प्रयत्न है और अप्रतिम जिजीविषा का सूचक है। उन्हीं के बगल में बैठे एक-दूसरे मित्र ने इसे मनोरोग कहा : 'मैनिक डिप्रेसिव साइकोसिस', यानी उत्साह-विषाद मनोचक्र-अति-अभिव्यक्ति बहिर्मुखता यानी प्रकारान्तर से वही कर्क लग्न!

किन्तु एक बात मैं मानता हूँ कि समय को बिना अधिकृत किए बीत जाने की विवशता मुझसे सही नहीं जाती है। मैं इसको 'वाच' करता हूँ। घड़ी नहीं मानता और इसीलिए कु-घड़ी और सु-घड़ी के चक्र से भी बरी रखता हूँ। टाइम और न्यूज! समयातिक्रमण नहीं, तो समयानुक्रमण मैं जरूर करता हूँ। यह समय का अभिज्ञान मेरी रचना प्रक्रिया को अनेकानेक रूपों में प्रभावित करता रहा है।

समय के प्रति लेखक की प्रतिबद्धता, युग-बोध के प्रति सचेत अभिज्ञान में निहित है। समय का छन्द सचेत द्रष्टा लेखक की रचनाओं में अपने-आप झंकृत होता है। हमारे जीवन का कोई भी ऐसा अंश नहीं है, जो समय से आबद्ध न हो। जीवन के प्रति साक्षी होने का भाव, समय के प्रति साक्षी होना ही है। आज भी कथा-साहित्य में समय-तत्व की अभिव्यक्ति का सर्वमान्य तरीका चेतना प्रवाह-पद्धति (स्ट्रीम आव कांशसनेस) ही है। 'मैं' व्याप्त सत्य का उत्तम-पुरुष

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(फर्स्ट पर्सन) ही नहीं, समय-सत्य का साक्षी और भोक्ता पुरुष भी है। एक आलोचक को मुझसे यह शिकायत रही है कि मेरी कहानियों में प्रायः एक 'मैं' जरूर होता है। यह 'मैं' समय के प्रति मेरी निजी प्रतिबद्धता का साक्षी है, जिसके माध्यम से जीवन के प्रत्येक अक्स को मैं सही ढंग से देखना चाहता हूँ। दूसरी ओर यह 'मैं' इस बात का भी सबूत है कि मैं वर्तमान युग में, जो सामूहिक और यांत्रिक सत्याभावों से परिचालित होने के लिए विवश है, अपने निजी खू-मांस से उपलब्ध सत्य को कहने का प्रयत्न करता हूँ। यह 'मैं' एक प्रकार से सभी प्रकार के अनुभवखण्डों, बिम्बों, प्रतीकों, चरित्रांशों तथा सन्देहों को सहज सरलीकृत करके एक स्वाभाविक अन्तर्निहित एकता के छन्द में डालने का माध्यम बन जाता है। स्मृति पुनरावर्तन (मेमोरी फ्लैशेज) की पद्धति में भी समय-चक्र का सही नियोजन कथाकार की समय-प्रतिबद्धता या सचेतना का प्रमाण होता है। प्रायः भूत से वर्तमान में अथवा वर्तमान से भूत में संक्रमण कहानियों में एक मामूली घटना लगती है, परन्तु समय-धारा का उद्वेग या परावर्तन इतनी सहज चीज नहीं। यह एक अणु-विस्फोट की स्थिति है। इसे ठीक से न संभालने के कारण कहानी का कलेवर जर्जर अथवा क्षतिग्रस्त हो सकता है। इसके प्रति चेतना इसीलिए बहुत जरूरी है। एक छोटा-सा उदाहरण दूँ : नन्हों अपने अपंग पति की मृत्यु के बाद रामसुभग की ओर आकृष्ट होती है। यह एक अभिधार्थक वाक्य है। कहानी में मृत्यु का रूप दिखाकर, ठीक उसके बाद प्यार-प्रशंसा का चित्रण एक 'शाकिंग' चीज है, इसे कहने के कई तरीके हो सकते हैं—एक तरीका यह भी है : 'कई महीने बीत गये। बरसातें आईं और गईं। पानी सूख गया, बादलों का घिरना बन्द हो गया। बौछारों से टूटी जर्जर दीवारों के घाव भर गये। नई मिट्टी से सज-संवरकर वे पहले जैसी ही लगने लगी।' इस प्रसंग में कहीं नन्हों का जिक्र नहीं है, पर सचेत पाठक जान जाएगा कि बरसात का और बादल घिरने का और बौछारों का और नई मिट्टी का अर्थ क्या है ? वही रामसुभग, नन्हों से तिरस्कृत होकर चला जाता है। नन्हों उसे प्रेम नहीं करती, ऐसी बात नहीं। पर रामसुभग के प्रति उसके हृदय में अनेक प्रकार के दुःस्वप्न भी है, इसीलिए वह उसे सहज

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार नहीं करती। मुद्दत के बाद एक बार कलकत्ते से रामसुभग की चिट्ठी आई। नन्हों उसे बांचती रही। 'एक-एक अक्षण को उचारने में पहाड़-सा समय लग गया, जैसे चबूतरे के पास कलसी के नीचे, पानी गिरने से जमीन नम हो गयी थी। जौ के बीज गिरे थे। जाने कब के। इकट्ठे एक में सटे हुए उजले-हरे अँखुवे फूटे थे। नन्हों सहुआइन एकटक उन्हें देखती रही, बड़ी देर तक। ये अँखुवे सिर्फ कलसी के पास ही नहीं हैं। नन्हों के भीतर भी कहीं हैं। और इनके ऐसा होने में कितना और कैसा समय लगाया होगा नन्हों ने ?

भाई, बात बढ़ती जा रही है और गप्प तो गप्प ही है। शायद ही कभी खत्म होने को आए। यह तो रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण हुआ नहीं। आप भी जाने क्या सोचते होंगे। अच्छा बाकी कभी फिर······

• •

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२ | सदाचार का तावीज़

हरिशंकर परसाई

एक राज्य में हल्ला मचा कि भ्रष्टाचार बहुत फैल गया है।

राजा ने एक दिन दरबारियों से कहा—"प्रजा बहुत हल्ला मचा रही है कि सब जगह भ्रष्टाचार फैला हुआ है। हमें तो आज तक कहीं नहीं दिखा। तुम लोगों को कहीं दिखा हो तो बताओ।"

दरबारियों ने कहा—"जब हुज़ूर को नहीं दिखा तो हमें कैसे दिख सकता है?"

राजा ने कहा—"नहीं, ऐसा नहीं है। कभी-कभी जो मुझे नहीं दिखता, वह तुम्हें दिखता होगा। जैसे मुझे बुरे सपने कभी नहीं दिखते पर तुम्हें तो दिखते होंगे।"

दरबारियों ने कहा— "जी, दिखते हैं। पर वह सपनों की बात है।"

राजा ने कहा—"फिर भी तुम लोग सारे राज्य में ढूंढ़कर देखो कि कहीं भ्रष्टाचार तो नहीं है। अगर कहीं मिल जाये तो हमारे देखने के लिए नमूना लेते आना। हम भी तो देखें कि कैसा होता है।"

एक दरबारी ने कहा—हुज़ूर, वह हमें नहीं दिखेगा। सुना है, वह बहुत बारीक होता है। हमारी आँखें आपकी विराटता देखने की इतनी आदी हो गयी हैं कि हमें बारीक चीज नहीं दिखती। हमें भ्रष्टाचार दिखा भी तो उसमें हमें आपकी ही छवि दिखेगी क्योंकि हमारी आँखों में तो आपकी ही सूरत बसी है। पर अपने राज्य में एक जाति रहती है जिसे 'विशेषज्ञ' कहते हैं। इस जाति के पास कुछ ऐसा अंजन होता है कि उसे आँखों में आँजकर वे बारीक से बारीक चीज़ भी देख लेते हैं। मेरा निवेदन है कि इन विशेषज्ञों को ही हुज़ूर भ्रष्टाचार ढूंढ़ने का काम सौंपें।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा ने 'विशेषज्ञ' जाति के पाँच आदमी बुलाये और कहा—"सुना है, हमारे राज्य में भ्रष्टाचार है। पर वह कहाँ है, यह पता नहीं चलता। तुम लोग उसका पता लगाओ। अगर मिल जाये तो पकड़कर हमारे पास ले आना। अगर बहुत हो तो नमूने के लिए थोड़ा-सा ले आना।"

विशेषज्ञों ने उसी दिन से छान-बीन शुरू कर दी।

दो महीने बाद वे फिर से दरबार में हाज़िर हुए।

राजा ने पूछा—"विशेषज्ञो, तुम्हारी जाँच पूरी हो गयी ?"

"जी, सरकार।"

"क्या तुम्हें भ्रष्टाचार मिला ?"

"जी, बहुत-सा मिला।"

राजा ने हाथ बढ़ाया—"लाओ मुझे बताओ। देखूँ, कैसा होता है।"

विशेषज्ञों ने कहा—"हुज़ूर, वह हाथ की पकड़ में नहीं आता। वह स्थूल नहीं, सूक्ष्म है, अगोचर है। पर वह सर्वत्र व्याप्त है। उसे देखा नहीं जा सकता, अनुभव किया जा सकता है।"

राजा सोच में पड़ गये। बोले—"विशेषज्ञो, तुम कहते हो कि वह सूक्ष्म है, अगोचर है और सर्वव्यापी है। ये गुण तो ईश्वर के हैं। तो क्या भ्रष्टाचार ईश्वर है ?"

विशेषज्ञों ने कहा—"हाँ, महाराज, अब भ्रष्टाचार ईश्वर हो गया है।"

एक दरबारी ने पूछा—"पर वह है कहाँ ? कैसे अनुभव होता है ?"

विशेषज्ञों ने जवाब दिया—"वह सर्वत्र है। वह इस भवन में है। वह महाराज के सिंहासन में है।"

"सिंहासन में है ?"—कहकर राजा साहब उछलकर दूर खड़े हो गये।

विशेषज्ञों ने कहा ?"—हाँ, सरकार, सिंहासन में है। पिछले माह इस सिंहासन पर रंग करने के जिस बिल का भुगतान किया गया है, वह बिल झूठा है। वह वास्तव से दुगने दाम का है। आधा पैसा बीचवाले खा गये। आपके पूरे शासन में भ्रष्टाचार है और वह मुख्यतः घूस के रूप में है।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषज्ञों की बात सुनकर राजा चिन्तित हुए और दरबारियों के कान खड़े हुए।

राजा ने कहा—"यह तो बड़ी चिन्ता की बात है। हम भ्रष्टाचार बिलकुल मिटाना चाहते हैं। विशेषज्ञो, तुम बता सकते हो कि वह कैसे मिट सकता है?"

विशेषज्ञों ने कहा—"हाँ, महाराज, हमने उसकी भी योजना तैयार की है। भ्रष्टाचार मिटाने के लिए महाराज को व्यवस्था में बहुत परिवर्तन करने होंगे। एक तो भ्रष्टाचार के मौके मिटाने होंगे। जैसे ठेका है तो ठेकेदार है। और ठेकेदार है तो अधिकारियों को घूस है। ठेका मिट जाये तो उसकी घूस मिट जाये। इसी तरह और बहुत-सी चीज़ें हैं। किन कारणों से आदमी घूस लेता है, यह भी विचारणीय है।"

राजा ने कहा—"अच्छा, तुम अपनी पूरी योजना रख जाओ। हम और हमारा दरबार उस पर विचार करेंगे।"

विशेषज्ञ चले गये।

राजा ने और दरबारियों ने भ्रष्टाचार मिटाने की योजना को पढ़ा। उस पर विचार किया।

विचार करते दिन बीतने लगे और राजा का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा।

एक दिन एक दरबारी ने कहा—"महाराज, चिन्ता के कारण आपका स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा है। उन विशेषज्ञों ने आपको झंझट में डाल दिया।"

राजा ने कहा—"हाँ, मुझे रात को नींद आती।"

दूसरा दरबारी बोला—"ऐसी रिपोर्ट को आग के हवाले कर देना चाहिए जिससे महाराज की नींद में खलल पड़े।"

राजा ने कहा—"पर करें क्या? तुम लोगों ने भी भ्रष्टाचार मिटाने की योजना का अध्ययन किया है। तुम्हारा क्या मत है? क्या उसे काम में लाना चाहिए?"

दरबारियों ने कहा—"महाराज, वह योजना क्या है, एक मुसीबत है। उसके अनुसार कितने उटल-फेर करने पड़ेंगे! कितनी परेशानी होगी! सारी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्था उलट-पलट हो जायेगी। जो चला आ रहा है, उसे बदलने से नयी-नयी कठिनाइयाँ पैदा हो सकती हैं। हमें तो कोई ऐसी तरकीब चाहिए जिससे बिना कुछ उलट-फेर किये भ्रष्टाचार मिट जाये।"

राजा साहब बोले—"मैं भी यही चाहता हूँ। पर यह हो कैसे ? हमारे प्रपितामह को तो जादू आता था; हमें वह भी नहीं आता ! तुम लोग ही कोई उपाय खोजो।"

एक दिन दरबारियों ने राजा के सामने एक साधु को पेश किया और कहा—"महाराज, एक कन्दरा में तपस्या करते हुए इन महान् साधक को हम ले आये हैं। इन्होंने सदाचार का तावीज़ बनाया है। वह मन्त्रों से सिद्ध है और उसके बाँधने से आदमी एकदम सदाचारी हो जाता है।"

साधु ने अपने झोले में-से एक तावीज़ निकाल कर राजा को दिया। राजा ने उसे देखा। बोले—"हे साधु, इस तावीज़ के विषय में मुझे विस्तार से बताओ। इससे आदमी सदाचारी कैसे हो जाता है ?"

साधु ने समझाया—"महाराज, भ्रष्टाचार और सदाचार मनुष्य की आत्मा में होता है; बाहर से नहीं होता। विधाता जब मनुष्य को बनाता है तब किसी की आत्मा में ईमान की कल फ़िट कर देता है और किसी की आत्मा में बेईमानी की। इस कल में-से ईमान या बेईमानी के स्वर निकलते हैं जिन्हें 'आत्मा की पुकार' कहते हैं। आत्मा की पुकार के अनुसार ही आदमी काम करता है। प्रश्न यह है कि जिनकी आत्मा से बेईमानी के स्वर निकलते हैं, उन्हें दबाकर ईमान के स्वर कैसे निकाले जायें ? मैं कई वर्षों से इसी के चिन्तन में लगा हूँ। अभी मैंने यह सदाचार का तावीज़ बनाया है। जिस आदमी की भुजा पर यह बँधा होगा, वह सदाचारी हो जायेगा। मैंने कुत्ते पर भी प्रयोग किया है। यह तावीज़ गले में बाँध देने से कुत्ता भी रोटी नहीं चुराता। बात यह है कि इस तावीज़ में-से भी सदाचार के स्वर निकलते हैं। जब किसी की आत्मा बेईमानी के स्वर निकालने लगती है तब इस तावीज़ की शक्ति आत्मा का गला घोंट देती है और आदमी को तावीज़ ईमान के स्वर के स्वर सुनाई पड़ते हैं। वह इन स्वरों को आत्मा की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुकार समझकर सदाचार की ओर प्रेरित होता है। यही इस तावीज़ का गुण है, महाराज !"

दरबार में हलचल मच गयी। दरबारी उठ-उठकर तावीज़ को देखने लगे।

राजा ने खुश होकर कहा—"मुझे नहीं मालूम था कि मेरे राज्य में ऐसे चमत्कारी साधु भी हैं। महात्मन्, हम आपके बहुत आभारी हैं। आपने हमारा संकट हर लिया। हम सर्वव्यापी भ्रष्टाचार से बहुत परेशान थे। मगर हमें लाखों नहीं, करोड़ों तावीज़ चाहिए। हम राज्य की ओर से तावीज़ों का कारखाना खोल देते हैं। आप उसके जनरल मैनेजर बन जायें और अपनी देख-रेख में बढ़िया तावीज़ बनवायें।"

एक मन्त्री ने कहा—"महाराज, राज्य क्यों इस झंझट में पड़े? मेरा तो निवेदन है कि साधु बाबा को ठेका दे दिया जाये। वे अपनी मण्डली से तावीज़ बनवा कर राज्य को सप्लाई कर देंगे।"

राजा को यह सुझाव पसन्द आया। साधु को तावीज़ बनाने का ठेका दे दिया गया। उसी समय उन्हें पांच करोड़ रुपये कारखाना खोलने के लिए पेशगी मिल गये।

राज्य के अखबारों में खबरें छपीं—'सदाचार के तावीज़ की खोज!' 'तावीज़ बनाने का कारखाना खुला!'

लाखों तावीज़ बन गये। सरकार के हर सरकारी कर्मचारी की भुजा पर एक-एक तावीज़ बांध दिया गया।

भ्रष्टाचार की समस्या का ऐसा सरल हल निकल आने से राजा और दरबारी सब खुश थे।

एक दिन राजा की उत्सुकता जागी। सोचा—"देखें तो कि यह तावीज़ कैसे काम करता है!"

वह वेश बदलकर एक कार्यालय गये। उस दिन २ तारीख था। एक दिन पहले ही तनख्वाह मिली थी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह एक कर्मचारी के पास गये और कई काम बताकर उसे पाँच रुपये का नोट देने लगे।

कर्मचारी ने उन्हें डाँटा—"भाग जाओ यहाँ से ! घूस लेना पाप है !"

राजा बहुत खुश हुए। तावीज़ ने कर्मचारी को ईमानदार बना दिया था।

कुछ दिन बाद वह फिर वेश बदलकर उसी कर्मचारी के पास गये। उस दिन इकतीस तारीख थी—महीने का आखिरी दिन।

राजा ने फिर उसे पाँच का नोट दिखाया और उसने लेकर जेब में रख लिया।

राजा ने उसका हाथ पकड़ लिया। बोले—"मैं तुम्हारा राजा हूँ। क्या तुम आज सदाचार का तावीज़ बाँधकर नहीं आये ?"

"बाँधा है, सरकार, यह देखिए !"

उसने आस्तीन चढ़ाकर तावीज़ दिखा दिया।

राजा असमंजस में पड़ गये। फिर ऐसा कैसे हो गया ?

उन्होंने तावीज़ पर कान लगाकर सुना। तावीज़ में-से स्वर निकल रहे थे—"अरे, आज इकतीस है। आज तो ले ले !"

● ●

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३ | 'झरते क्षणों का पर्ण-मुकुट'

कुबेरनाथ राय

नमो पर्णाय च पर्णशदाय च नमो नमः ! पीले झरते पत्ते के रूप में रुद्र को नमस्कार, और पत्ते झराने वाली जरामरण की ऋतु हेमन्त के रूप में भी रुद्र को नमस्कार। रुद्र, एक ही साथ क्षुद्र पाण्डुर पत्ता और उस पत्ते के हृदय में बैठी उसे निरन्तर पकहर करने वाली महत् काल-शक्ति दोनों हैं। वह जीव है, घट है, पट है, पटाकाश है और उस पटाकाश पर नित्य सजती हुई छह ऋतुओं का दृश्यमान पाटम्बर भी है। इस वेदान्त का जितना सटीक अनुभव मुझे हेमन्त-शिशिर में होता है—उतना और किसी ऋतु में नहीं। हेमन्त और शिशिर स्वभावतः अभिन्न हैं और इसी से ऋग्वेद के प्राचीन स्थलों में तो पाँच ऋतुओं का ही उल्लेख है। इस हेमन्त काल में बाग की पीपरपाँती में बैठा-बैठा मैं झरते पत्तों का, जरा-मरण का उत्सव देखता हूँ और अस्मिता को वेदान्त का उपदेश देने की चेष्टा करता हूँ। यद्यपि यह जानता हूँ कि नित्य मनोभव का पट बुनने वाली मेरी अस्मिता इन झरे पत्तों का ही किरीट-कुण्डल पहनना अधिक पसन्द करेगी, अपेक्षाकृत 'शतरुद्रिय' के वेदान्त के! वह तो इस चालीसा चढ़ने पर भी पीले पत्तों की नाव बना कर प्रवाहित करती रहती है विरजा नदी के प्रवाह पर, और इच्छाओं की सींक खोंस कर पत्र-पुट रचती रहती है। यह मेरी नटखट अस्मिता मानती है कि ये पीले पत्ते जरामरण का गीत-काव्य नहीं हैं, बल्कि आने वाले मधु-माधव के पत्र-दूत हैं। अतः यह अस्मिता पूँछ उठा कर नाचे-गाये या जो करे, परन्तु इससे भी गह्वरे में स्थित है प्रज्ञा जो आत्मा की बोध-शक्ति है, और वह इस विराग और इस वेदान्त के मर्म को खूब समझती है। वस्तुतः हेमन्त भावानुभूति और कल्पना की ऋतु नहीं, प्रज्ञा-बोध की ऋतु है। इस ऋतु के परिवेश में प्रज्ञा पकहर और निरुज होती है। इस ऋतु के परिवेश में वह गहरे ध्यान-योग में प्रवेश करती है, हृदय में बैठे लोकचक्षु-पुरुष से स्पष्ट साक्षात्कार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करती है और उसका निर्विकार महाशान्त चेहरा पढ़ने की चेष्टा करती है। हेमन्त की इस महाविरागी वेला में मुझे लगता है कि मैं पितरलोक से उतरे किसी उदासी-भरे काव्य का एक पन्ना पढ़ रहा हूँ और आस-पास की सारी सृष्टि ही भोजपत्र-वन में बदल गयी है, जिसमें शाखा-शाखा उदास पन्नों को लपेट कर खड़ी है, पत्ती-पत्ती का वर्ण पाण्डुर या गैरिक-धूमिल है और महाकाल के शिला-खण्डों के बीच वेदान्त-बोध और 'ज़ेन'-बोध की अरूप लायब्रेरी सजी हुई है। यही कारण है कि मुझे अपने बाग़ की पीपरपाँती में बैठ कर झरते पत्तों का, जरामरण का हेमन्ती उत्सव देखना सुखद लगता है। यह सुख मधु-माधव के सुख से, चितवन के सुख से, दृष्टि द्वारा परस्पर को चाटने के सुख से बिल्कुल भिन्न किस्म का सुख है। यह है बोध पाने का सुख, यह है अपनी मानसिक विकलता को मुष्टिगत कर लेने का सुख, यह है एक भयानक कान्तार को अकेले-अकेले पार कर जाने का सुख, यह है सूचीभेद्य अन्धकार में अचानक हथेली पर एक दीपक पा जाने का सुख, यह है मदोन्मत्त काल हस्ती के मस्तक पर निर्भय शिशु की तरह जा विराजने का सुख। इस सुख को प्रज्ञा भोगती है, उस सुख को अस्मिता ! ये प्रज्ञा और अस्मिता दोनों एक देह-शाखा पर बैठी शुक-सारिका हैं, शुक मौन रहता है और सारिका चहकती रहती है और मेरा देह-महीरुह दोनों के सह-अस्तित्व को धारण कर के चल रहा है।

मैंने कहा कि हेमन्त बोध की ऋतु है। वास्तविक बोध का अनुभव होता है 'ध्यान' के मध्य। 'ध्यान' का महत्त्व 'वेदान्त' (अपने नामान्तर 'योग' में) और 'ज़ेन' दोनों स्वीकार करते हैं। वस्तुतः दोनों के मूल में एक ही कर्मकाण्ड-निरपेक्ष लोकायत परम्परा है जिसके बीज अश्वत्थ और स्वस्तिक प्रतीकों वाली प्राग्वैदिक मोहन-जो-दड़ो संस्कृति में ही वर्तमान हैं। 'ज़ेन' 'ध्यान' का ही रूपान्तर है : भारतीय 'ध्यान' ही जापान में 'ज़ेन' बन कर उपस्थित है। ध्यान के भीतर बोध मिलता है प्रातिभ ज्ञान या 'अचानक आभास' के माध्यम से। यह बिना आँख मूंदे, बिना त्रिकुटी में प्राण चढ़ाये भी सम्भव है। इसके लिए चाहिए मानसिक पारदर्शकता, मन की तलदर्शी गम्भीरता और चित्त की अवि-कलता। ऐसी अवस्था में प्रज्ञा अपने-आप निर्मल दर्पण बन कर आभास-बिम्ब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उतारने लगती है। ध्यान एक तरह का मानसिक एकान्त है। यह अपनी कल्पना शक्ति, अनुभव-शक्ति और चिन्ता-शक्ति को ऐसे मानस-तल पर स्थापित करता है जो शान्त, प्रसन्न, पारदर्शी एवं धीर प्रवाहयुक्त है (जब यही प्रवाह सर्वथा स्तब्ध हो जाता है तो ध्यान की संज्ञा हो जाती है 'समाधि'—परन्तु यह सामान्य जन के परे की बात है और यहाँ इस प्रसंग में हम इसकी चर्चा नहीं करते हैं)। प्रत्येक स्वस्थ मस्तिष्क वाले व्यक्ति में इस ध्यान की कम या बेश क्षमता विद्यमान रहती है। यह कोई अलौकिकता-सम्पन्न योगियों और काष्ठमौनी सिद्धों की खास क्षमता नहीं। यह कम या बेश वही तथ्य है जिसे होजे ओर्तेगा-इ-गासे ने आज की भाषा में "power to retire to oneself" (अन्तर्मुखी होने की क्षमता) कहा है। यह पशुओं में नहीं है। मनुष्य के मानसिक संस्थान की यह सामान्य विशिष्टता है। कोई भी व्यक्ति चेष्टा करने पर मन के इस तल पर अपने को उतार सकता है। यह सर्वसामान्य क्षमता है। यद्यपि अभ्यास और श्रद्धा के अभाव में दिन पर दिन भौतिक विकास में गुत्थमगुत्थ जुटे मनुष्य में इस क्षमता का लोप होता जा रहा है। यही क्षमता हमें पशुत्व से ऊर्ध्व करती है और इसी क्षमता के लोप होने का अर्थ है जीवन में चंचलता, विकलता और पाशविकता की वृद्धि तथा जीवन और साहित्य का ऐन्द्रियता के साथ निविड़ संयोग। इस ध्यान-क्षमता के ह्रास के फलस्वरूप मनुष्य एक मानसिक ट्रैजेडी की ओर तीव्रता से अग्रसर हो रहा है, उसकी अन्ध अमोघ नियति उसे उसी ओर घसीटे लिये जा रही है जहाँ उसका यह देहवाद उसके टूटते आन्तरिक व्यक्तित्व को बिखरने से रोकने में असमर्थ है। इसी ध्यान-क्षमता के अभाव में उसके बिखरे व्यक्तित्व को पुनर्गठित कर के किसी नये रूप में पुनर्वास प्रदान करना भी असम्भव है। ध्यान के मानसिक एकान्त में ही हम किसी मूल्य या किसी रूप या किसी नाम को 'शान्त विन्दु' या 'नाभि' बना कर मन के अतल-वितल तलातल-पाताल तक के प्रत्येक स्तर पर गुत्थमगुत्थ 'बाजती हुई' गड्डमड्ड वृत्तियों, ईहाओं और तृषाओं को सहलाते हुए उक्त नाभि तक खींच कर ला सकते हैं और फिर उन्हें एक मनोरम पैटर्न में गूँथ कर आन्तरिक व्यक्तित्व की पुनर्रचना कर सकते हैं। इस ध्यान-क्षमता का ह्रास मगज धुलाई-आकाशवाणी-प्रेस-लाउडस्पीकर से सज्जित युग में होना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवश्यम्भावी है। परन्तु ऐसा होना शुभ का आरोहण न हो कर मनुष्य की ट्रेजेडी होगा। यह व्यक्तित्व की षोडशी कला की, प्रज्ञा की, आन्तरिक ऋद्धि और भूमा की हत्या का षड्यंत्र सिद्ध होगा।

कहते हैं कि बुद्ध अपने जीवन के अन्तिम काल में विशेषतः अपनी आयु के आखिरी दशक में प्रायः चुप रहा करते थे। ऐसा करना उनके लिए आवश्यक हो गया था। यह तत्कालीन इतिहास के मध्य पलती यन्त्रणा और पाशविकता थी जिसने उस महानायक को भीतर स्तब्ध प्रवाह कर लेने को बाध्य कर दिया था। यदि वे अपने को इस स्थिरधृति पर दृढ़तापूर्वक स्थापित नहीं करते तो जो कुछ घटित हो रहा था वह सब उन्हें आत्महत्या कर देने को बाध्य कर देता। उनके युग के गर्भ में भयानक पाशविकता पल रही थी जो न केवल कामना-प्रधान हिंसापूर्ण कर्मकाण्ड या यज्ञ-यागादि में अभिव्यक्ति पा रही थी (वस्तुतः वह हिंसा तो मामूली थी, उसका विरोध प्रतीकात्मक होने के कारण अधिक विज्ञापित हो गया), बल्कि व्यक्ति और समूह नखशिख उस पाशविकता से आविष्ट और ग्रस्त था, जैसे सर्दी के मारे ठिठुरता हुआ कोई अग्नि-काम-कातर पुरुष सारी रात अगिया बैताल के पीछे-पीछे दौड़े! कोशल और मगध दोनों राजवंशों में क्रूरता, हिंसा, लोभ और कपटाचरण अपने नग्न रूप में व्यक्त हो रहा था। मगध का सिंहासन तो सदैव रक्त-कलंकित रहा ही है। कोशल के प्रसेनजित को उनके पुत्र विड्डदभ या विदूडभ ने, और मगध के बिम्बसार को उनके पुत्र कुणीक अजातशत्रु ने कैद कर लिया था। ये दोनों राजकुमार अति क्रूर और उद्धत स्वभाव के थे और उनके पिता बुद्ध के परम सुहृद थे। विदूडभ की लालची गृद्ध-दृष्टि थी अपने ही मातुलकुल शाक्यगण पर; और अजातशत्रु अपने सहोदर के रक्त का प्यासा था और अपने मातुलकुल वैशालीगण पर मांसलोलुप क्रूर भेड़िये की तरह प्रतीक्षारत था! उच्च वर्ण में शील और सदाचार नाम की वस्तु नहीं रह गयी थी। इसी लिए बुद्ध ने एक ऐसे धर्म की स्थापना की, जिसके केन्द्र में 'देवता' नहीं, 'शीलाचार' था। बौद्ध धर्म मूल रूप में उपासनापरक धर्म नहीं, शीलाचरण मात्र है। धर्म का रूप कामना-प्रधान काम-क्रोध-लोभ की पूजा मात्र रह गया था। सारी सृष्टि ही लगता था कि वासना-लोलुप हो गयी है और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य काम-कीट हो गया है। अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' में वर्णित नन्द का काम-लुब्ध चरित्र सच्चे तथ्यों पर आधारित लगता है। अपनी ही बुआ की पुत्री उत्पलवर्णा के साथ, जो भिक्षुणियों में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी, नन्द ने अन्धवन के अरण्यवास काल में वलपूर्वक सम्भोग किया। शुभा नामक एक षोडशी लोहार कन्या का भी प्रसंग आता है जो बुद्ध की प्रिय शिष्या थी। एक दिन उस पर आसक्त कोई पुरुष अरण्य पथ पर उसका पीछा कर रहा था तो शुभा ने पूछा कि वह इस क्षुद्र देह पर क्यों इतना लुब्ध है? उसने उत्तर दिया, "तुम्हारी आँखें ही अपूर्व सुन्दर है। इन्हीं के कारण मैं लुब्ध हो गया हूँ।" कहते हैं कि शुभा ने तत्काल अपनी दोनों आँखें निकाल कर उसे सौंप दीं और उस कामान्ध कातर पुरुष को चकित और मर्माहत कर दिया। प्रत्येक अभिजात सम्भ्रान्त पुरुष के पास दासियों की एक जमात रहती थी। उनके अन्तःपुर कामना के अग्निकुण्ड वन गये थे। इन सारी घटनाओं के परिवेश में ही उनके 'आर्य सत्य चतुष्टय' और उनके कामना-नाश के उपदेश को लेना होगा। उन्होंने उरु-वेला में प्रसिद्ध 'पावक-प्रवचन' दिया था "भिक्षुओं, सृष्टि जल रही है, आँखें जल रही हैं, चारों ओर स्वाहा-लपटें हैं। भिक्षुओ, यह किस की आग है? यह है 'काम' की आग!" उनके इस प्रवचन को उक्त सामूहिक मानसिक विकृति के सन्दर्भ में रख कर देखें तो इसका सटीक अर्थ प्राप्त होगा, अन्यथा नहीं। बुद्ध ने जो 'शील'-केन्द्रित धर्म प्रवर्तित किया, वह केवल वैदिक यज्ञ के प्रति प्रतिक्रिया मात्र नहीं था। ऐसा कहना सत्य के शतांश को ही स्वीकृत करना है। वस्तुतः 'समूहमन' ही कामविह्वल, विकल और दग्ध हो रहा था। सेक्स ही नहीं तरह-तरह की कामनाओं से जीवन एक असहज प्रेताविष्ट रूप ले चुका था। ऐसे समय में समूहमन को सहज स्वास्थ्य की ओर लौटाने के लिए समाज की मनोवैज्ञानिक तृषा के उदात्तीकरण और तुष्टि के लिए उन्होंने 'शील' पर केन्द्रित करके एक देवता-निरपेक्ष धर्म प्रवर्तित किया। श्रावस्ती में उन्होंने थेर से कहा था :

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"चन्दनं तगर वापि उप्पलं अथ वस्सिकी
एतेसं गन्ध जातानं शीलगन्धो अनुत्तरो ।"[1]

—(धम्मपद)

उन्होंने अपने समय में उत्तर भारत को आपस में युद्ध एवं हत्या रक्तपात में निरन्तर लिप्त देखा । अवन्ती का चण्ड प्रद्योत महासेन, कोशल का प्रसेनजित, मगध का बिम्बसार ये तीनों अत्यन्त हिंसा-लोलुप और विस्तारवादी शासक थे। आपस में मगध-कोशल निरन्तर युद्ध करते रहे। इसके पहले कोशल-काशी जूझते थे। मगध का राजसिंहासन क्रूरता और नरहत्या की परम्परा पर आश्रित था (और बुद्ध के मरने के बाद भी वह परम्परा अक्षुण रही)। चारों ओर क्रोध, क्रोध, क्रोध। चारों ओर वैर, वैर वैर। भीषण हिंसा और प्रतिहिंसा। चाचा-भतीजा, पिता-पुत्र, भाई-भाई, परस्पर रक्त-पिपासु थे। धर्म दृष्टिहीन हो चुका था। वह तो कामना-प्रधान कर्मकाण्ड का पाखण्ड भर था। कोई भी उबरने का मार्ग नहीं ज्ञात होता था। इतिहास के ऐसे कालबिन्दु पर खड़े हो कर बुद्ध ने एक अत्यन्त अद्भुत उपदेश दिया था :

"वैर दुःख है। हम वैरी जगत् के मध्य अवैरी भाव से सुखपूर्वक रहें। वैरियों के मध्य अवैरी होकर विचरण करें।

"आतुरता दुःख है। हम आतुर जगत् के मध्य अनातुर भाव से सुखपूर्वक रहें। आतुरों के मध्य अनातुर होकर विचरण करें।

"हम लोग जो अकिंचन है, सुखपूर्व विचरण करें, प्रीति का भक्षण करें और अभास्वर देवताओं की तरह रहें।"

बुद्ध आजीवन युद्ध करते रहे समूहमन को आविष्ट करने वाली काम-तृषा, हिंसा, आतुरता और लोलुपता के विरुद्ध। वह आजीवन देवताओं के लिए नहीं,

---

1. चन्दन, तगर, उत्पल अथवा बरसाती पुष्प (जूही आदि), इन सब की सुगन्धों से भी उत्कृष्टतर गन्ध होती है शील (सदाचार) की।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शील और सदाचार के लिए उपदेश देते रहे। परन्तु उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम काल में जो कुछ अनुभूत किया वह बड़ा ही भयावह था। उन्होंने मन ही मन अनुभव किया होगा कि 'मार' के साथ सामूहिक स्तर पर चल रही लड़ाई में मार की ही विजय हुई है। काम-क्रोध के असुर ही जीते हैं, मार की तीनों कन्याएँ आर्त्ति, रति और तृषा ही विजयिनी हुई हैं। उनके चक्षुओं के सम्मुख ही शाक्य वंश का भयंकर संहार घटित हुआ—जिस शाक्य वंश की वह सन्तान और युवराज थे, जिस शाक्य वंश का सदस्य होने का उन्हें अन्त तक गौरव-बोध था। बहुत पहले एक बार कोशलपति प्रसेनजित ने पूछा था : "भगवन्, भिक्षुगण हमारे यहाँ भिक्षा ग्रहण क्यों नहीं करते ?" तो उन्होंने उत्तर दिया कि भिक्षुगण केवल 'विश्वसनीय भोजन' ही करते हैं और 'विश्वसनीय भोजन' वह भोजन है जो सद्धर्म के सदस्य द्वारा अर्पित हो, या शाक्यों अथवा शाक्यों के रक्त संबंधी पुरुष के घर का हो। तब प्रसेनजित ने शाक्यों से रक्त-संबंध स्थापित करना चाहा। उसकी शक्ति से डर कर शाक्यगण 'नहीं' तो नहीं कर सके, परन्तु उन्होंने दासी-पुत्री को राजकुमारी कह कर अर्पित किया। बाद में ज्ञात होने पर प्रसेन-जित ने उन्हें दण्डित करना चाहा। परन्तु बुद्ध के अनुरोध से क्षमा कर दिया। उसी दासी-पुत्री की सन्तान जो प्रसेनजित की उत्तराधिकारी बनी अर्थात् कुमार विदूडभ ने शाक्यों पर इसी बात का बहाना बना कर आक्रमण किया और आबाल-बृद्ध भीषण नरसंहार किया, शाक्यगण का नाम ही धरती से मिट गया। यह दारुण घटना घटित हुई बुद्ध के जीवन के अन्तिम दशक में। वह इस घटना को सुन स्तब्ध हो गये थे। उनके मन में क्या घटित हुआ, यह तो अन्तर्यामी ही जानें। पर वह इस आघात के साथ-साथ अपनी प्रिय नगरी वैशाली के दारुण ध्वंस का दुःस्वप्न भी अवश्य ही देख रहे थे जिस का षड्यन्त्र अजातशत्रु जो पिता की ही भाँति ऊपर से बुद्ध के प्रति श्रद्धालु रहता था, भीतर-भीतर बड़ी सावधानी से ब्राह्मण मंत्री वर्षकार की सहायता से कर रहा था। शायद बुद्ध मन ही मन अपने को पराजित अनुभव कर रहे थे अथवा मन में एक भयानक अंत र्द्वन्द्व को पाले थे, अथवा अपने अतिमानवीय वज्रोपम मनोबल द्वारा इन घटनाओं के आघत को पी तो गये थे, परन्तु यह कटु पान उन्हें स्तब्ध कर गया था। इसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से जीवन के अन्तिम काल में वे बोलते थे, परन्तु बहुत कम। उपदेश तो प्रायः वे मौन हो कर किया करते थे। सम्भवतः वे अपनी अपार वेदना को मौन के ही भीतर डुबा कर निर्विष कर लिया करते थे।

उन दिनों उत्तर भारत के वातावरण में मृत्यु और हत्या चारों ओर साँय-साँय कानाफूसी कर रहे थे। सरयू से सदानीरा तक, हिमालय की तराई से शोणभद्र और रेवा तक कामना के लुब्ध प्रेतों के घोड़ों की 'टाप-टपाटप' प्रत्येक निचलायी रात में सुनाई पड़ती थी और मन ही मन सभी जानते थे कि काश्यगण पहले ही नष्ट हो चुका था, शाक्यों का भी मूलोच्छेदन हो गया और अब मल्ल तथा वैशालीगणों की बारी है, इनकी नियति का फैसला भी आसमान में हो चुका है, इनके ऊपर अदृश्य काल-गृद्धों ने मँडराना शुरू कर दिया है। बुद्ध-कालीन एक सर्वहारा दार्शनिक, एक गरीब मंख (चारण) का बेटा मंखलि गोशाल ज्वर-प्रलाप में मरते समय 'अष्ट चरम नियतियों' की बात कह कर मरा था, जिनका आध्यात्मिक दार्शनिक अर्थ कोई नहीं बैठता है, चाहे कितनी भी खींच-तान क्यों न की जाय। वस्तुतः उन अष्ट नियतियों का सम्बन्ध वैशाली की आसन्नभावी नियति से[1] था जिसका दुःस्वप्न ले कर वह सर्वहारा दार्शनिक मरा था। उन अष्ट नियतियों का संवाद श्रावस्ती से चम्पा तक हवा में चारों ओर फैल गया : "युद्ध होगा, भयानक युद्ध होगा, सर्वान्तिक युद्ध होगा; अन्तिम नृत्य, अन्तिम गीत, अन्तिम पान, अन्तिम उत्सव, अन्तिम अभिषेक, अन्तिम अंजलि-कर्म (देव चैत्यों और वृक्ष चैत्यों को) घटित होगा और गण-जीवन की उत्सव-परम्परा की सदैव के लिए बलि हो जायेगी, महाशिला-निक्षेप-यन्त्रों द्वारा संग्राम होगा, रथ-मुशलों की भयंकर मार से सब कुछ क्षत-विक्षत-ध्वस्त हो जायेगा।" मंख-गोशालक का यह दुःस्वप्न घटित हुआ। बुद्ध की मृत्यु के ४-५ वर्ष बाद ही अजातशत्रु और उत्तर भारत के गणों में प्राणान्तक संग्राम हुआ। भयंकर नरसंहार के बाद वे 'व्रात्य' (अर्थात् 'समूहजीवी') आर्यगण इधर-उधर बिखर गये, कुछ

---

1. वे आठ नियतियाँ हैं : "चरमे नट्टे, चरमे गेये, चरमे पाने, चरमे अंजलि कर्मे, चरमे पुष्कलसंवर्त्तमेधे (एक अभिषेक यन्त्र), चरमे गंध हस्ती (एक हाथी), चरमे महा शिलाकण्टे (एक अस्त्र), चरमे रथमुशले (एक अस्त्र)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चम्पारण्य-सारण्य आरण्य में जा बसे, कुछ नेपाल चले गये। कुछ ने तिब्बत जा कर वहाँ शासन-व्यवस्था स्थापित की, और कुछ ने अन्य स्थानों में जा कर। रुचि तथा पूर्व कर्म के अनुसार कहीं ब्राह्मण नाम से तो कहीं क्षत्रिय नाम से अपने को स्थानीय लोगों में विलीन कर दिया। बुद्ध भी यह दुःस्वप्न देख रहे थे। अपने अन्तिम समय में जो कुछ घटित होने वाला था उसकी भयावह कल्पना करते हुए अपने बोध और विश्वास को बचाने का एकमात्र मार्ग उन के सामने रह गया था ध्यान और मौन का : भीतर-भीतर गहरे में, मौन के अतल केन्द्र में अपनी प्रज्ञा या बोध-शक्ति की 'नाभि' को उन्होंने स्थापित कर लिया था और वहीं पर मन को स्थित कर के उसी गहराई से वह बाहर से प्राप्त सारे बोधों और अनुभवों को ग्रहण करते थे, फलतः ऊपर शीश पर जो भी हवा-पानी, झड़-तूफान आये, प्रज्ञा को नाभि पर स्थित मन का वज्रासन अचल-अविचलित-अकाम रह जाता था। अपने शिष्यों को भी उस ध्यान-लोक के प्रातिभ अनुभवों को वे भाषा में न कह कर मौन के द्वारा या कभी-कभी संकेतों से 'संध्या भाषा' में कह दिया करते थे। उन्हीं शिष्यों में से एक था 'बोधिधर्म' नामक सम्भवतः दाक्षिणात्य ब्राह्मण। उसने इस नयी शिक्षण-पद्धति का विशेष रूप से आहरण किया था। यही वोधिधर्म ही 'ज़ेन' का आदिगुरु माना जाता है।

इसी से 'ज़ेन' अर्थात् ध्यान मौन का संवाद है, मौनता के मध्य उपलब्ध 'बोधि' या आस्वादन है। बुद्ध-हृदय के आस्वादन की 'ज़ेन' धारणा ने जापान के मानसिक जीवन में 'वुद्ध-हृदय' का एक व्यापक और विस्तृत अर्थ ग्रहण कर लिया। इस सत्य को मात्र आध्यात्मिक तथ्य न रख कर जीवन के अन्य धरातलों पर भी उतारा गया। चायपान (चा नो यू), भोजन, कक्ष-सज्जा, पुष्प-सज्जा, संध्या-उत्सव, उषा-दर्शन, ज्योत्स्ना द्वारा दृष्टि-अभिषेक, चेरी के फूलों की बासन्ती बहार, उनके झड़ने की विषादमय कविता, ऋतुचर्या और रति-क्रिया आदि से ले कर कला-शिल्प, संगीत, अभिनय संवाद, 'हाइकू' कविता और इतिहास के उत्थान-पतन की घटनाएँ सर्वत्र सब कुछ में 'ज़ेन' भावधारा का, ज़ेन-पद्धति का प्रवेश हो गया। अगर एक कप चाय भी पीनी है तो ज़ेन-पद्धति से पान करो अर्थात् चुपचाप मौन हो कर एक-एक बूंद का अनुभव करते हुए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पान करो, एक भी बूंद उपेक्षित और अनास्वादित न जाने पाये, एक-एक बूंद के स्वाद में वही तोष और रस उपलब्ध करो गोया वह बूंद ही 'वुद्ध-हृदय' है !

हेमन्त ओर शिशिर में पत्तियाँ पीली पड़ती हैं, पत्तियाँ झरती हैं, चारों ओर उदासी का वातावरण छा जाता है। फिर वसन्त काल में चेरी के फूल गहगहा कर फूटते हैं और सारी प्रकृति पुष्पोत्सव से लाल हो जाती है। पर ये फूल कितने अल्पकालीन हैं, इन्हें फूटते-खिलते-झरते चौवीस घण्टे भी नहीं लगते, और यह सारी लहार-बहार महज़ पन्द्रह दिनों की है, फिर तो वही उदासी और वही प्रतीक्षा। ये मनोरम चेरी के फूल, अल्पजीवी-सुकुमार फूल, उदास-उदास फूल, ठीक विषाद-धर्मी बौद्ध-दर्शन की भाँति। पन्द्रह-वीस दिनों की लहार-वहार ! फिर प्रवर्त्तन की प्रतीक्षा ! पर ये फूल क्षणजीवी हो कर भी वड़ी माया, बड़ा मोह ले कर आते हैं। इस 'दुःख सत्य है' के जगत में, जिससे एक-एक क्षण एक-एक 'रस-व्यूह' बन जाता है, एक-एक पाँखुरी जीवन का प्रतीक बन जाती है नीले 'किमोनो' में सज्जित किशोरी कन्याओं का शृंगार बन जाती है, प्रेमियों का आवेग बन जाती है और कवियों की प्रार्थना बन जाती है, लघु-लघु हाइकू कविताओं की तरह। ये फूल भी क्षण-दर्शन के प्रतीक हैं। यत् तत् सर्वं क्षणिकम् ! पर इसी 'क्षणिकम्' के मध्य जीना है एक-एक क्षण का, जीवन की एक-एक बूंद का शुद्ध-निरुज स्वाद लेते हुए जिससे कोई क्षण बिखर न जाय ज़मीन पर गिर कर 'ढाबर मायाजल' न बन जाय। अतः 'क्षण के बोध को प्रगाढ़ करो, गम्भीर करो, सम्पृक्त करो। क्योंकि इसी क्षण-बोध के माध्यम से 'शील' का पान करना है और शील को रचना है, सौन्दर्य का पान करना है और सौन्दर्य को रचना है, सुख का पान करना है और सुख को रचना है। जो है वह क्षणिक है और क्षण-बोध से जो प्राप्त होगा वह भी क्षणिक ही होगा। पर 'क्षण' प्रति 'क्षण' को इतना सुन्दर और शुभ तथा स्वस्थ कर के जिया जाय कि ये सारे क्षण मिल कर एक काल-रेखा रच दें जो अनन्त की महिमा का प्रतिस्पर्धी हो उठे। जीवन का प्रत्येक बिन्दु इतना सुन्दर हो जाय कि उनके मिलने से बनी जीवन-रेखा अपने-आप सहज सुन्दर हो उठे। यही समन्वय जापान के जीवन में घटित हुआ था शताब्दियों पूर्व। इसी समन्वय के कारण जापान अपनी औद्योगिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रान्ति के प्रथम चरण में भौतिक समृद्धि और विकास के फलस्वरूप आयी उतावली, विकलता और विखराव के मध्य भी 'स्थिति धी' रह गया, विखरा नहीं। परन्तु महायुद्ध पूर्व और उस के वाद में 'प्रगति' और अस्तित्व की पाश्चात्य चिन्ता ने उसे उतावली, घूर्णित विकलता और नास्तिवाद (निहिलिज़्म जिस का एक रूप है आधुनिक जापानी साहित्य का 'मू'-दर्शन) की ओर ठेल दिया; वह 'शंका' और 'प्रश्न' से पीड़ित हो उठा, वह 'ज़ेन' में निहित आस्था से डगमगा उठा। उसके सामाजिक जीवन में भीषण विखराव और हताशा का अनुप्रवेश हो गया। आज जापान में आत्महत्याओं की वाढ़-सी आ गयी है। तो भी महायुद्ध के भग्नावशेष पर जो इतनी जल्दी नया सशक्त जापान खड़ा हो सका, उसका वहुत कुछ श्रेय जापानी चरित्र में निहित 'ज़ेन' मनोभाव को है, जो उसके समूह मन के अवचेतन का अंग वन चुका है।

'ज़ेन' या 'ध्यान' (निष्काम कर्मयोग की तरह) स्वयं में एक दर्शन नहीं, वल्कि एक चिन्तन-पद्धति और कर्म-पद्धति है जो हमारे प्रत्येक कर्म को 'बोध' और आस्था से जोड़े रहती है। किसी भी जीवन-दर्शन में विश्वास करते हुए चाहे वह क्रान्तिकारी दर्शन हो या स्थितिशील दर्शन हो, 'ज़ेन' पद्धति का प्रयोग किया जा सकता है। जीवन-दर्शन भाग्यवादी, नियतिवादी, वैराग्यवादी, संघर्षवादी या कर्मवादी जो कुछ हो, यदि वह सहज प्रज्ञा और स्थित प्रज्ञा के द्वारा व्यवहार में लाया जाय तो कभी भी बिखराव या पतन का स्रोत नहीं हो सकता। ग्रीकों का जीवन-दर्शन नियतिवादी था और ऊपर से देखने पर वह घोर निराशावादी लगता है। तो भी ग्रीक जाति के द्वारा महान् कार्य सम्पन्न हुए और ग्रीकों का पतन और जातीय विनाश नियतिवाद के कारण नहीं, अतिशय 'प्रश्नाकुलता, अतिशय 'शंका' और आस्था-भंजन के कारण हुआ। 'शंका' और 'प्रश्न' दोनों वहुत ज़रूरी हैं। इन के बिना सभ्यता और संस्कृति 'यथास्थिति' में अधिक काल तक पड़ कर प्रवाह-शून्य हो जाते हैं। परन्तु स्मरण रखना होगा कि प्रश्न और शंका जीवन-दर्शन को और नये बोध को उद्घाटित करने के यन्त्र मात्र हैं। 'प्रश्न' और 'शंका' साधन हैं। वे स्वयं में उपलब्धि नहीं हो सकते। प्रश्न और शंका को ही एकमात्र जीवन-दर्शन नहीं बनाया जा सकता। ग्रीकों ने यही ग़लती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की। सोफ़िस्टो ने प्रश्न और शंका को जीवन-दर्शन की तरह मन की सुषुम्ना नाड़ी में स्थान दिया। फलतः कोई मर्यादा नहीं रह गयी, कोई ज़मीन नहीं रह गयी जिस पर जीवन प्रतिष्ठित किया जा सके। केवल शंका, केवल प्रश्न, केवल मूल्य-भंजन को जीवन-दर्शन बनाने के फलस्वरूप ही ग्रीक संस्कृति का विनाश घटित हुआ था। आज अमेरिका में और अमेरिका-प्रभावित बौद्धिक जगत् में 'आत्मस्वीकारपरक' साहित्य का तथा 'प्रश्न', 'शंका' और मूल्य-जन का आवेश छाता जा रहा है। इसके द्वारा किसी भी शीलाचार की रचना या जीवन का स्वस्थ विकास असम्भव है। जापान के जीवन में यही ट्रेजेडी घटित हुई है। वह सहजता और शान्त-बोध पर आश्रित 'ज़ेन' जीवन-पद्धति के प्रति 'प्रश्न' और 'शंका' से पीड़ित है। आधुनिक जापानी साहित्य (जो थोड़ा-बहुत अनुवाद के माध्यम से प्राप्त होता है) को देख कर यही धारणा बनती है। जापान का आधुनिक 'मू'-दर्शन वस्तुतः पश्चिमी अस्तित्ववाद का ही एक चेहरा है जो जापानी मुहावरों के मुखौटों से ढका हुआ है। अगर जापान को आत्मत्राण मिलेगा, तो अपनी पुरानी 'ज़ेन' पद्धति के ही माध्यम से। ज़ेन 'पलायनवाद' नहीं, बल्कि एक बोध-सम्पृक्तता है। पलायनवादी व्यक्ति ना-धर्मी जीवन (ह्रास और अतिचार) की ओर जाता है। यह पलायनवाद का विशेष लक्षण है। यह लक्षण पश्चिम के 'ह्रासोन्मुख', 'डिकेडेंट' साहित्य (बॉदलेअर या आस्कर वाइल्ड) में पाया जा सकता है। इस के विपरीत हम 'ज़ेन' में संयम और बोध की ओर गति करते हैं। यह एक प्रकार की सहजता और मानसिक संयम है। इसे पलायनवाद कहना इसे अधूरा समझना है। ज़ेन और निष्काम कर्मयोग दोनों जीवन की हाँ-धर्मी और दृढ़तर भूमियाँ हैं जो हमारे बाहरी कर्म-कलाप को एक मानसिक योग से जोड़ती हैं। मेरी धारणा तो यह है कि जापान में ज़ेन और भारतवर्ष में कर्मयोग का वेदान्त ही हमें बिखराव और पतन से सुरक्षा दे सकते हैं। हमारे देश में भी औद्योगिक विकास और भौतिक समृद्धि के विकास के साथ-साथ यह आन्तरिक विकलता और बिखराव का प्रश्न उपस्थित होगा, प्राचीन और नवीन मनोभूमियों के सन्तुलन में जो कुछ 'सहज और सहज-प्राणवान' दब कर, पिस कर मर जायेगा, वही प्रेत बन कर हमें तंग करेगा। ऐसी अवस्था में एक वेदान्ती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोभूमि, एक निष्काम कर्मयोग यदि मन में उपस्थित रहे तो सब कुछ स्वस्थ और सहज ढंग से विकसित होगा। व्यक्ति मन की तरह समूह मन भी एक सजीव सत्ता है। समूह मन के विविध अवदमन ही इतिहास में विचित्र विकृत चेहरे ले कर व्यक्त हुए हैं। नाज़ी 'प्रग्रोम' कम्यूनिस्ट 'पर्ज' तथा गत महायुद्ध इन्हीं सामूहिक अवदमनों के फल हैं।

मैं वेदान्ती हूँ, अतः 'क्षण' और 'क्षणातीत' दोनों का विश्वासी हूँ : 'क्षणों' की नित्य परिवर्तित काल-नदी के पीछे एक 'क्षणातीत' सत्ता में भी मेरा विश्वास है। मेरे लिए भी 'ध्यान' का उतना ही महत्त्व है जितना कि एक क्षणवादी 'ज़ेन' विश्वासी के लिए। वेदान्त ज़ेन से व्यापक है। यह 'ज़ेन' भी है पर साथ ही 'कुछ और' भी है। इस वेदान्त-बोध के लिए भी ध्यान-क्षमता आवश्यक है। परन्तु खेद है कि अपनी शताब्दी में यह अन्तर्मुखी होने की क्षमता (power to retirc to oneself) न्यून से न्यूनतर होती जा रही है। मुझे तो भय लगता है कि अगले कालखण्ड में सभ्यता या तो अतिशय यांत्रिक समृद्धि के कारण अथवा क्रूर-दुर्भेद्य अधिनायकवादी शासन के कारण कुछ ऐसा रूप ले लेगी जिसमें अकेलापन, ध्यान-क्षमता, एकान्त, प्राइवेसी (Privacy) आदि का क्रमशः लोप हो जायेगा। यदि अतिशय व्यक्तित्व-भोग, स्व-भोग और वासना का दुर्निवार दक्षयज्ञ अमंगलजनक है, तो उससे कम अमंगलजनक नहीं है अपनी सारी उषाएँ और संध्याएँ खो देना, अपने कमरे का एकान्त खो देना, अपने शयन-कक्ष, अपनी चाँदनी रात, अपने फूल, अपनी हँसी, अपने अश्रु और पश्चात्ताप, अपनी क्षमाप्रार्थना और अपना निष्कपट आत्मस्वीकार, इन सब को खो देना अथवा इन्हें अविराम अविच्छिन्न जोखिम और आतंक में भोगना। एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब मैं अकेलेपन का, ध्यान का, एकांत का स्वाद ही भूल जाऊँगा, सूनी रातों में अकेले-अकेले आकाश को पढ़ने का स्वाद भूल जाऊँगा, प्रेमिका अथवा पुस्तक के साथ एकान्त रात काट देने का स्वाद भूल जाऊँगा, बच्चों और नारियों से बात करने का स्वाद भूल जाऊँगा, प्रेम-पत्र लिखने का स्वाद भूल जाऊँगा और रति-क्रिया का स्वाद भूल जाऊँगा। एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब तप्त क्षमाहीन दिवस के हिंसा-द्वेष-भरे चक्षुओं से घायल मन पर कहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी छाया में बैठ कर मरहम-पट्टी करने का, अथवा अन्धकार के एकान्त में परस्पर गुत्थमगुत्थी करती अतृप्त- लालसाओं को समबद्ध कर के एक पैटर्न में व्यवस्थित करने का समय नहीं मिल पायेगा और सारा का सारा जीवन बवण्डर में चक्कर काटती सूखी दीन पत्ती की तरह यांत्रिक सभ्यता के भयानक दक्षयज्ञ में, राजनीति के निरन्तर भूँकते कुत्तों के बीच ही काट देना पड़ेगा।

प्रायः मैं अपने पूरब वाले बाग की 'पीपर-पाँती' अर्थात् अश्वत्थ-कुंज में बैठा-बैठा हेमन्त-शिशिर के झरित पत्रों का उत्सव देखा करता हूँ। हेमन्त अर्थात् झरते पत्तों की ऋतु, हेमन्त अर्थात् जरा-मरण की ऋतु, और इस झरित पत्रों के परिवेश में मुझे दान्ते के 'नरक-खण्ड' (Inferno) की एक पंक्ति बार-बार याद आती है : "जब झरने लगते हैं जीर्ण पत्र !" नरक में सूखी पत्तियों की तरह आत्माएँ झरती हैं, विकल चक्कर खाती हैं। नरक अर्थात् झरे पत्तों जैसी उड़ती-बिखरती आत्माओं का घोर उदास वन, हवा में झरे पत्तों जैसी लावारिस भटकती आत्माओं का बदरंग-निरंग वन, नग्न शाखाओं का निर्जन-निरंजन वन। और आज मनुष्य जाति के इतिहास के उसी नरक-वन में मैं प्रवेश कर रहा हूँ। परन्तु इस बीसवीं शती की सारी व्यथा-वेदना, सारी ट्रेजेडी का वाहक हो कर भी मैं भीतर-भीतर पत्थर हो गया हूँ, क्योंकि मैं कभी रोया नहीं, कभी पश्चात्ताप नहीं किया। वे जो मेरे पूर्व सूरिगण थे, वे जिनके नाम हैं व्यास और तुलसीदास, वर्जिल और दान्ते, वे रोये थे, वे पितृगण रोने की और पश्चात्ताप करने की क्षमता से सम्पन्न थे। अतः उन्होंने इतिहास के नरक-वन में कुटीर बाँध कर भोगे हुए आँसुओं के माध्यम से लोकोत्तर विषाद का मंगलमय काव्य लिखा। परन्तु मैं बीसवीं शती का दान्ते, मैं तो कभी रोया ही नहीं, मैं तो भीतर ही प्रस्तरीभूत हो गया हूँ। मुझे क्या पता कि विषाद-रस या यह क्षणबोध-रस तीता होता है या मीठा। परन्तु जब-जब मैं इतिहास के नरक-वन में रुदनी करती हुई आत्माओं के सम्मुख जा पड़ता हूँ, जब-जब मैं अपने 'कृत' का स्मरण करते हुए और सिसकते हुए पूर्वजों के उदास वन में संचरण करता हूँ, तब-तब उन भटकती सूखी काली पत्तियों जैसी जीर्ण आत्माओं से एक अविराम खर-खराहट भरा स्वर सुन पाता हूँ। वे हवा में चक्कर काटती आकुल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्माएँ अपनी यह दीन प्रार्थना व्यक्त करना चाहती हैं: "ओ कवि, (उन्हें क्या मालूम कि कविता से मेरा सम्पर्क शापग्रस्त डोम और राजकन्या वाला ही है) तुम अपने ताल-पत्रों और भोज-पत्रों पर हमारी बात लिखना, हम जो कहना भूल गये, हममें जो अनभिव्यक्त कसक रह गयी, उत्तर-कालीन किशलयों-पर्ण-मुकुलों और शस्य-श्री के लिए हमारा जो सँदेसा अनकहा रह गया, उसको तुम व्यक्त करना, हमारी तरफ से उन्हें हमारा स्वस्ति-श्री बाँचना और हमारी भूल-ग़लती का जमा-खर्च निकाल कर जो 'श्री रोकड़ बाकी' शेष बचे उसे उत्तर-कालीन मुकुलों को सौंप देना !" परन्तु मैं बीसवीं शती का कवि अथवा कवि का एक सगोल, यह सब सुन कर भी गोया नहीं सुन पा रहा हूँ। मैं भीतर ही भीतर प्रस्तरीभूत हो गया हूँ। मैं तो इच्छाओं के असि-पत्र वन में अपने दाढ़ तेज करता हुआ, शाखाओं पर रगड़-रगड़ कर उन पर सान चढ़ाता हुआ, विचरण करने वाला जीव हूँ। मैं कवि दान्ते को पढ़ कर आत्माओं के हेमन्ती वन में व्यर्थ ही भटक गया। मैं तो असि-पत्र वन का निवासी हूँ जिसमें कामनाओं के तेज धारदार हरित खड्ग उगे हैं, उनसे भी मेरा अंग-अंग छिल कर क्षत-विक्षत होता रहता है और मुझे बड़ी मौज आती है। मैं नरक-वन की यह पश्चात्ताप-भाषा और उसके भीतर अन्तर्निहित कवि-पितरों की स्वधा का आशीर्वाद कैसे पहचानूं ?

• •

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४ | अंगद का पाँव

श्रीलाल शुक्ल

वैसे तो मुझे स्टेशन जाकर लोगों को विदा देने का चलन नापसन्द है, पर इस वार मुझे स्टेशन जाना पड़ा और मित्र को विदा देनी पड़ी। इसके कई कारण थे। पहला तो यही कि वे मित्र थे। और, मित्रों के सामने सिद्धान्त का प्रश्न उठाना ही वेकार होता है। दूसरे, वे आज निश्चय ही पहले दर्जे में सफ़र करने वाले थे, जिसके सामने खड़े होकर रूमाल हिलाना मुझे एक निहायत दिलचस्प हरकत जान पड़ती है।

इसलिए मैं स्टेशन पहुँचा। मित्र के और भी बहुत से मित्र स्टेशन पर पहुँचे हुए थे। उनके विभाग के सब कर्मचारी भी वहीं मौजूद थे। प्लेटफ़ार्म पर अच्छी खासी रौनक़ थी। चारों ओर उत्साह फूटा-सा पड़ रहा था। अपने दफ़्तर में मित्र जैसे ठीक समय से पहुँचते थे, वैसे ही गाड़ी भी ठीक समय पर आ गई। अब उन्होंने स्वामिभक्त मातहतों के हाथों गले में मालाएँ पहनीं, सबसे हाथ मिलाया, सबसे दो-चार रस्मी बातें कहीं और फ़र्स्ट क्लास के डिब्बे के इतने नज़दीक खड़े हो गये कि गाड़ी छूटने का खतरा न रहे।

गाड़ी छूटने वाली थी। लोगों ने सिगनल की ओर देखा। वह गिर चुका था।

अब चूंकि कुछ और करना वाकी न था इसलिए उन्होंने उन लोगों में-से एक आदमी से वातें करनी शुरू कीं जो ऊपरी मन से हर काम के आदमी को दावत के लिए बुलाते हैं और जिनकी दावतों को हर आदमी ऊपरी मन से हँसकर टाल दिया करता है। हमारे मित्र भी उनकी दावत टाल चुके थे। इसलिए वे कहने लगे, "इस बार आऊँगा तो आपके ही यहाँ रुकूंगा।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे हँसने लगे। कहने लगे, "आप ही का घर है। आने की सूचना भेज दीजिएगा। मोटर लेकर स्टेशन आ जायेंगे।" तब मित्र ने कहा कि मोटर की क्या ज़रूरत है। तब वे बोले कि वाह साहब, मोटर आप ही की है, इसमें तकल्लुफ़ की क्या ज़रूरत है। तब मित्र बोले कि तकल्लुफ़ घर वालों से तो किया नहीं जाता। तब वे बोले, जाइए साहब, ऐसा ही घर वाला मानते तो आप बिना एक शाम हमारे ग़रीबख़ाने पर रूखा-सूखा खाये यों ही न निकल जाते। तब मित्र ने कहा कि ऐसी क्या बात है, आप ही का खाता हूँ। तब वे हें-हें करने लगे। तभी गाड़ी ने सीटी दे दी और लोग आशापूर्वक सिगनल की ओर झाँकने लगे।

मैंने इस बात-चीत में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई क्योंकि मित्र को हमेशा मेरे ही यहाँ आकर रुकना था और हम दोनों इस बात को जानते थे।

ठीक वैसे ही जैसे मित्र दफ़्तर में आते तो समय से थे पर जाने में हमेशा कुछ देर कर देते थे वैसे ही समय हो जाने पर भी गाड़ी ने सीटी तो दे दी पर चली नहीं। इसलिए फिर रुक-रुककर इन विषयों पर बातें होने लगीं कि मित्र को पहुँचते ही सबको चिट्ठी लिखनी चाहिए और उस शहर में अमरूद अच्छे मिलते हैं और साहब, आइएगा तो अमरूद ज़रूर लाइएगा। तब पुराने नौकर ने बताया कि नाश्तेदान को बिस्तर के पीछे रख दिया है। तभी पुराने हेड क्लर्क बोले कि बिस्तर तो सीट पर बिछा दिया गया है। तब एकाउण्टेण्ट ने कहा कि बिस्तर का सिरहाना उधर के बजाय इधर होता तो अच्छा होता है क्योंकि उधर कोयला उड़कर आयेगा। तब हेड क्लर्क बोले कि नहीं, कोयला उधर नहीं आयेगा बल्कि उधर से सीनरी अच्छी दिखेगी। तभी कैशियर बाबू आ गये; उन्होंने मित्र को दस रुपये की रेज़गारी दे दी। तब मित्र ने खुलेआम उनके कन्धे को थपथपाया और खुले गले से उन्हें धन्यवाद दिया।

पर इस सबसे न तो कुछ होना था, न हुआ। लोग महीना भर से जानते थे कि मित्र को जाना है। इसलिए मतलब की सभी बातें पहले ही अकेले में ख़त्म हो चुकी थीं और सबके सामने वे सभी बातें की जा चुकी थीं जो सबके

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामने कही जाती हैं। सामान रक्खा ही जा चुका था, टिकट खरीदा ही जा चुका था। मालाएँ डाली ही जा चुकी थीं। हाथ या गले या दोनों मिल ही चुके थे और गाड़ी चलने का नाम तक न लेती थी। थियेटर में जब हीरो पर वार करने के लिए विलेन खंजर तानकर तिरछा खड़ा हो जाता है, उस वक़्त परदे की डोरी अटक जाय तो सोचिए क्या होगा ? कुछ वैसी ही हालत थी। परदा नहीं गिर रहा था।

चूँकि मेरे पास करने को कोई बात नहीं रह गई थी इसलिए मैं मित्र से कुछ दूर जाकर खड़ा हो गया और किसी ऐसे आदमी की तलाश करने लगा जो बराबर बात कर सकता हो। जो ऐसा आदमी नज़र में आया उसे मित्र की ओर ठेल भी दिया। उसने अपनी हमेशा वाली मुसकान दिखाते हुए कहा, "आपके जाने से यहाँ का क्लब सूना हो जायगा।" मित्र ने हँसकर इस तारीफ़ से इनकार किया। उसने फिर कहा, "पहले ब्राउन साहब के ज़माने में टेनिस इसी तरह चली थी पर बीच में दब गई थी। आप के ज़माने में फिर ज़ोर पकड़ने लगी थी पर अब देखिए क्या होता है।" मित्र बोले, "होता क्या है ? आप चलाइए।" तभी वे एकदम नाराज़ हो गये। तुनककर बोले, "मैं क्या चला सकता हूँ जनाब, मुझे तो ये लड़के क्लब का सिक्रेटरी ही नहीं होने देना चाहते। अब कोई टिकिया चोर सेक्रेटरी हो तभी टेनिस चलेगी। मुझे तो ये निकालने पर आमादा हैं।" बोलते-बोलते वे अकड़ कर खड़े हो गये। मित्र ने हँसकर इस विषय को टाला। उसके बाद इनकी बातों का भी दिवाला पिट गया और बात आई-गई हो गई।

पर गाड़ी नहीं चली।

मित्र कुछ देर तक बेचैनी से सिगनल की ओर देखते रहे। कुछ लोग प्लेट-फ़ार्म पर इधर-उधर टहल कर पान-सिगरेट के इन्तज़ाम में लग गये। कुछ को अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं ने इस क़दर बेज़ार किया कि वे पास के बुकस्टॉल पर अख़बार उलटने लगे। कुछ के मन में कला, कौशल और ग्रामोद्योगों के प्रति एक-दम से प्रेम उत्पन्न हो गया। वे पास की एक दूकान पर जाकर हैंडिक्रैफ़्ट के कुछ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नमूने देखने लगे । तब तक एक पुराना स्थानीय नौकर मित्र के हाथ लग गया । उसे देखते ही अचानक मित्र के मन में समाज की समाजवादी व्यवस्था के प्रति विश्वास पैदा हो गया । वे हँसकर उसकी प्रशंसा करने लगे । तब वह रोकर अपनी पारिवारिक विपत्तियाँ सुनाने लगा । अब मित्र बड़े करुणाजनक भाव से उसकी बातें सुनने लगे । तब कुछ टिकट चेकर तेज़ी से आये और सामने से निकल गये । मित्र ने उनकी ओर देखा पर जब तक वे कुछ बात करने की बात तै करें कि वे आगे निकल गये । तब तक एक लम्बा-सा गार्ड सीटी बजाता हुआ निकला । हेड क्लर्क ने कहा, "सुनिये साहब", पर यह उसने अनसुना कर दिया और सीटी बजाता हुआ आगे बढ़ गया ।

पर गाड़ी फिर भी नहीं चली ।

कुछ को परिस्थिति पर दया आई और वे फिर मित्र के पास सिमट आये । पर घूम-फिरकर कई लोगों ने कई छोटे-छोटे गुट बना लिये और कला के लिए जैसे कला—वैसे बात के लिए बातें चल निकलीं । एक साहब की निगाह मित्र की फूल-मालाओं पर गई । उनको उसी से प्रेरणा मिली । बोले, "गेंदे के फूल भी क्या कमाल पैदा करते हैं । असली फूल-मालाएँ तो गेंदे के फूलों की ही बनती हैं ।"

बात-चीत की सड़ियल मोटर एक बार जब धक्का खाकर स्टार्ट हो गई तो उसकी फटफटाहट का फिर क्या पूछना ! दूसरे महाशय ने कहा, "इण्डिया में अभी तो जैसे हम बैलगाड़ी के लेवेल से ऊपर नहीं उठे वैसे ही फूलों के मामले में गेंदे से ऊपर नहीं उभर पाये । गाड़ियों में बैलगाड़ी, मिठाइयों में पेड़ा, फूलों में गेंदा, लीजिए जनाब, यही है आपकी इण्डियन कल्चर !"

इसके जवाब में एक दूसरे साहब ने भीड़ के दूसरे कोने से चीखकर कहा, "अंग्रेज़ चला गया पर अपनी औलाद छोड़ गया ।"

इधर से उन्होंने कहा, "जी हाँ, आप जैसा हिन्दुस्तानी रह गया पर दिमाग़ वह गया ।" इतना कहकर, जवाब में आने वाली बात का वार बचाने के लिए वे फिर मित्र की ओर मुखातिब हुए और कहने लगे, "बताइए साहब, गुलाब की वो-वो वैरायटी निकाली है कि...।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तभी गार्ड ने फिर सीटी दी और वे चौंक कर इंजिन की ओर देखने लगे। इंजिन एक नये ढंग से सीं-सीं करने लगा था। कुछ सेकंड तक यह आवाज़ चलती रही पर उसके बाद फिर पहले वाली हालत पर आ गई, ठीक वैसे ही जैसे दफ़्तर छोड़ने के पहले मित्र कभी-कभी कुर्सी से उठकर भी कोई नया काग़ज़ देखते ही फिर से बैठ जाते थे। तब उस पुष्प-प्रेमी ने अपना व्याख्यान फिर से शुरू किया, "हाँ साहब, तो अंग्रेज़ों ने गुलाब की वो-वो वैरायटी निकाली है कि कमाल हासिल है। सन बर्स्ट, पिंक पर्ल, लेडी हैलिंग्टन, ब्लैक प्रिंस, वाह, कमाल हासिल है! और अपने यहाँ? यहाँ तो जनाब वही पुराना टुइयाँ गुलाब लीजिए और खुशबू का नगाड़ा बजाइए।"

बात यहीं पर थी कि इस बार गार्ड ने सीटी दी। बहस थम गई। पर कुछ देर गाड़ी में कोई हरकत नहीं हुई। इसलिए वे दूसरे महाशय भी भीड़ को फाड़कर सामने आ गये। अकड़कर बोले, "हाँ साहब, ज़रा फिर से तो चालू कीजिए वही पहले का दिमाग़ वाला मज़मून। मेरा तो भई, दिमाग़ हिन्दुस्तानी ही है, पर आइए, आपके दिमाग़ को भी देख लें।"

तब मित्र महोदय बड़े ज़ोर से हँसे और बोले, "हातिम भाई और सक्सेना साहब में यह हमेशा ही चला करता है। याद रहेंगे, साहब, ये झगड़े भी याद रहेंगे।"

इस तरह यह बात भी खतम हुई, झगड़े को मजबूरन मैदान छोड़ना पड़ा। उधर सिग्नल गिरा हुआ था। इञ्जिन फिर से 'सीं-सीं' करने लगा था। पर गाड़ी अंगद के पाँव-सी अपनी जगह टिकी थी।

भीड़ के पिछले हिस्से में दर्शन-शास्त्र के एक प्रोफ़ेसर धीरे-धीरे किसी मित्र को समझा रहे थे, "जनाब, ज़िन्दगी में तीन बटे चार तो दबाव है, कोएर्शन का बोल-बाला है, बाक़ी एक बटे चार अपनी तबीयत की ज़िन्दगी है। देखिए न, मेरा काम तो एक तख्त से चल जाता है, फिर भी दूसरों के लिए ड्राइंग-रूम में सोफ़े डालने पड़ते हैं। तन ढाँकने को एक धोती बहुत काफ़ी है, पर देखिए, बाहर जाने के लिए यह सूट पहनना पड़ता है। यही कोएर्शन है। यही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़िन्दगी है। स्वाद खराव होने पर भी दूध छोड़कर कॉफी पीता हूँ, जासूसी उपन्यास पढ़ने का मन करता है पर काण्ट और हीगेल पढ़ता हूँ; और जनाव गठिया का मरीज़ हूँ पर मित्रों के लिए स्टेशन आकर घंटों खड़ा रहता हूँ।"

वे और उनके श्रोता—दोनों रहस्यपूर्ण ढंग से हँसने लगे और फिर मुझे अपने नज़दीक खड़ा पाकर और जोर से खुलकर हँसने लगे ताकि मुझे उनकी निश्छलता पर सन्देह न हो सके।

गाड़ी फिर भी नहीं चली।

अब भीड़ तितर-वितर होने लगी थी और मित्र के मुँह पर एक ऐसी दयनीय मुसकान आ गई थी जो अपने लड़कों से झूठ बोलते समय, अपनी बीवी से चुरा कर सिनेमा देखते समय या वोट माँगने में भविष्य के वादे करते समय हमारे मुँहों पर आ जाती होगी। लगता था कि वे मुसकराना तो चाहते हैं पर किसी से आँख नहीं मिलाना चाहते।

तभी अचानक गार्ड ने सीटी दी। झंडी हिलाई। इंजन का भोंपू बजा और गाड़ी चलने को हुई। लोगों ने मित्र से उत्साहपूर्वक हाथ मिलाये। फिर मित्र ही डिब्बे में पहुँच कर लोगों से हाथ मिलाने लगे। कुछ लोग रूमाल हिलाने लगे। मैं इसी दृश्य के लिए बेचैन हो रहा था। मैंने भी रूमाल निकालना चाहा पर, रूमाल सदा की भाँति घर पर ही छूट गया था। मैं हाथ हिलाने लगा।

एक साहब वज़न लेने वाली मशीन पर बड़ी देर से अपना वज़न ले रहे थे और दूसरों का वज़न लेना देख रहे थे। गार्ड की सीटी सुनते ही वे दौड़कर और भीड़ को चीरते हुए मित्र तक पहुँचे। गाड़ी के चलते-चलते उन्होंने उत्साह से हाथ मिलाया। फिर गाड़ी को निश्चित रूप से चलती हुई पाकर हसरत के साथ बोले, "काश, कि यह गाड़ी यहीं रह जाती।"

●●

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५ | पतझड़ संदेश

डॉ० श्रीप्रसाद

उस दिन मैं रिक्शे पर बैठा जा रहा था। कबीरचौरा मिडिल स्कूल से जैसे ही आगे बढ़ा कि बायीं ओर एक पेड़ पर निगाह चली गयी। यह पेड़ कब्रों के पास है और कब्रों का यह स्थान सुनसान हैं। स्वभाव में एकांत प्रियता-सुनसान की भावना कुछ इस कदर आ गयी है कि हर बड़े एकान्त की ओर निगाह चली जाती है—भले ही यह एकान्त खुले मैदान का हो या कब्रगाह का, या खण्डहर का, या किसी बड़े मकान का।

हाँ, निगाह पेड़ की ओर एकाएक उठ गयी। निगाह रोज ही उठती थी उधर से जाते समय; पर कब्रों पर। अबकी पेड़ की ओर निगाह इसलिए गयी कि तीन चार पत्ते पेड़ से टूटकर बड़ी भंगिमा के साथ हवा की परतों को भेदते हुये नीचे तैरते चले आ रहे थे—मानो पत्ते नहीं, तीन चार आत्मायें हैं, जो अपने शरीरों का परित्याग कर आनन्द-संचरण कर रही हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।

गीता के उस अलौकिक संदेश का स्मरण पेड़ के पत्तों से बँध गया। एक-एक कर लहरियों में आते हुए चार पत्ते ही श्लोक की चार पक्तियाँ हैं। हर पत्ता एक पंक्ति का बोध करा रहा था। यह वृक्ष पुरुष है। पत्ते आत्मा हैं। जब तक पत्ते हैं, वृक्ष हरा है। जब तक आत्मा है, जीवन का अस्तित्व है, सजीवता है। परन्तु पत्तों का गिरना नये पत्तों के आने का सूचक है, नयी जीवनाशा का संकेत है। जब ध्वंस में निर्माण छिपा है, तो ध्वंस के लिये दुःख

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान ... आर्ष पुस्तकालय

क्यों ? मृत्यु एक दुःखद स्थिति है, पर हमेशा नहीं। वृद्ध की मृत्यु लौकिक रूप से उसके दुःखों की मुक्ति का कारण बनती है और अलौकिक रूप से आत्मा सिर्फ वस्त्र बदलती है, आत्मा अस्तित्वहीन नहीं होती।

साधारण जीवन में व्यक्ति कभी अतिवादी नहीं होता। वह मध्यम मार्ग लेकर चलता है। वह लौकिक भी रहता है, अलौकिक भी—भौतिकवादी भी रहता है, अध्यात्मवादी भी। मृत्यु के सन्दर्भ में भी वह जहाँ बूढ़े की मृत्यु से ज्यादा दुःखी नहीं होता—करीब-करीब बिलकुल नहीं होता, वहीं युवक या प्रौढ़ की मृत्यु का दुःख असह्य हो उठता है। उस समय गीता भी उसे सान्त्वना नहीं दे पाती। काल उसके हृदय को छेनी की तरह छेदने लगता है। पर मनुष्य बच ही जाता है। न बचे तो क्या करे ?

मैंने बूढ़ों की मृत्यु पर शवयात्रा में लोगों को नाचते हुये और अंग्रेजी बाजे बजवाते हुये खूब देखा है। कितनी विचित्र बात है कि जो गाजे-बाजे के साथ शव यात्रा लेकर चलते हैं, उन्होंने गीता का नाम भर सुना होगा और पढ़ा तो किसी-किसी ने ही होगा। पर गीता छनकर परम्परा में आ गयी है, संस्कार बन गयी है। संस्कृति की जड़ें कितनी गहरी होती हैं। पीढ़ियाँ दर्शन की आदि भित्ति को भूल गयीं, पर दर्शन अपना काम कर रहा है।

हमारा आज का जीवन हमारी आदिम परम्पराओं की भित्ति पर ही तो खड़ा है। वर्तमान में हम बाहरी संक्रमणों से भी जुड़े हैं और एक मिली-जुली संस्कृति जी रहे हैं—देहपर जनेऊ रहता है उस पर शर्ट, उस पर टाई। भीतर हम हैं, शुद्ध हिन्दुस्तानी-हिन्दू-भारतीय। हमारा ग्रामीण या लोक जीवन, लोक कथाएँ, लोक गीत और लोक अनुश्रुतियाँ, भारतीयता के असली तत्त्वों को अपने में समेटे हुये हैं। नगरीय संस्कृति एक नयी भिन्न औद्योगिक विकास की संस्कृति है, जब कि ग्रामीण संस्कृति निर्लिप्त संस्कृति। एक बार जब मैं अपनी बहन के यहाँ से सपरिवार चलने लगा तो लोग गाँव की सीमा तक छोड़ने आये। जहाँ उन्होंने हम लोगों को विदा दी, वहाँ पेड़ थे, पास में ही ताल और दूर तक पगडंडीनुमा बड़ा रास्ता। मुझे एकाएक कालिदास याद आ गये 'हा धिक्, हा धिक् अन्तर्हिता शकुन्तला बनराज्या।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम लोगों की बैलगाड़ी आम और नीम के पेड़ों के बीच से होकर घर की ओर आ रही थी।

पर नगरीय संस्कृति का विकास अपने ढंग का है। यहाँ स्टेशन तक 'सी आफ' किया जाता है। यहाँ न आरोपित संस्कृति है, न नकली। यह नगरीय संस्कृति है, जो हर शहर में एक जैसी है। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास या दिल्ली, आगरा या इलाहाबाद या बनारस-अन्तर संस्कृति का नहीं, सड़कों और इमारतों का है, यातायात के साधनों का है—आधुनिक उपकरणों का है। परन्तु कलकत्ता या मद्रास के किसी सुन्दर गाँव में-बम्बई या आगरा या इलाहाबाद के धुर गाँव में बेहद सांस्कृतिक अन्तर है—प्रिय और आश्चर्यजनक अन्तर! वहाँ लोग अपनी आंचलिक या क्षेत्रीय संस्कृति के परिवेश में जी रहे हैं, सजीव हो रहे हैं। भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए ग्रामीण अंचल कोश है।

किन्तु पेड़ से गिरते पत्ते मेरा मन कचोटने लगे। मुझे न जाने क्यों सूर याद आ गये—

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहें
ता दिन तेरे तन तरुवर के
सबै पात झरि जैहें।

कविता की अर्थानुभूति मनोदशा पर निर्भर करती है। कविता की मनोदशा सदा नहीं रहती। तभी जो कविता एक समय सामान्य लगती है, दूसरे समय बड़ा गम्भीर अर्थ देने लगती है—अनुभूति बनकर मन को मरोड़ने लगती है। कविता मन का, हृदय का व्यापार है—वह हृदय से हृदय का व्यापार है। मेरा मन गहरे चला गया। असमय ही ऊल-जलूल विचार आने लगे, जिन पर बलपूर्वक नियंत्रण किया।

तो कविता की सफलता भी अनुभूति बनने में ही है। वैचारिक कविता, कविता नहीं होती। कविता अनुभूति सृष्टि ही है, और जिसे वैचारिक कविता कहा जाता है, वह भी अनुभूति दृष्टि है, बौद्धिक कविता भी अनुभूति सृष्टि ही है, यद्यपि यह अनुभूति एक बौद्धिक की होती है। मैं मन को सांत्वना देने के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए कविता के किसी दूसरे संदर्भ को मन ही मन तलाशने लगा। और यह संदर्भ मिल गया।

पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान तिथी........ पु०सं०....822 भारती पुस्तकालय

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र
हे स्रस्त ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिमताप पीत, मधुवात भीत
तुम वीतराग, जड़ पुराचीन।

यदि ये पत्ते नहीं झरेंगे तो अपयश पायेंगे। अपनी ही डाली पर खड़-खड़ायेंगे और डाली के सौंदर्य को भी बिगाड़ेंगे और नये पत्तों को भी नहीं आने देंगे। और अन्ततः काल का अनुशासन मानना ही पड़ेगा—'काल बली' से नहीं बच सकेंगे।'

काल मृत्यु का पर्याय नहीं, जीवन का पर्याय है। वह पुराने आवरणों को हटाता रहता है, नये आवरण चढ़ाता रहता है। काल एक सुखद अनुभूति है। काल का ही अनुशासन है कि हम गा रहे थे—

आषाढ़'य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रकीडांपरिणतगजप्रेक्षणीय ददर्श।

और काल ने ही यवनिका हटाकर रंगपीठिका पर नया दृश्य उपस्थित कर दिया :

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति
सेनापति है सुहाति, सुखी जीवन के गन हैं।

कालचक्र अविरल चल रहा है—घूम रहा है यह ऐसा चक्का, जिसकी लपेट में जो आयेगा, नया जीवन धारण करेगा, और जो बचेगा, छटकेगा, उसकी कुत्सित अवस्था होगी। काल का शीतल बर्फानी हाथ अपने नम्र स्पर्श से सब कुछ ध्वस्त कर देगा—

इक लख पूत सवा लख नाती
ता रावन घर दिया न बाती।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल स्थापना के व्यामोह से व्यक्ति को अलग करता है। आत्मा है या नहीं, मुझे नहीं पता, पर व्यक्ति है, यह सही है। किन्तु व्यक्तियों में सही व्यक्ति वह है जो परिवर्तनों का स्वागत करता है, समय का आदर करता है ठहरता नहीं, संचरित होता रहता है। ठहरना ही मौत है। तालाव का पानी ठहरता है, सड़ता है, नदी का पानी गतिशील रहता है, हमेशा ताजा बना रहता है—हमेशा निर्मल सजीव और स्फूर्त बना रहता है।

यही काल आज माँग कर रहा है, आज की व्यवस्था से—समाज की व्यवस्था से, शासन की व्यवस्था से। बदलो ! बदलो ! समय की माँग है कि बदलो, अन्यथा समय कठोरतापूर्वक वदल देगा।

भारत में उम्र का औसत सत्ताईस वर्ष है 'आल्हा' के क्षत्री गाया करते थे :

वरिस अठारह छत्री जीवै,
आगे जीवन कौं धिक्कार।

पर हमारे समाज में अनेक लोग जो जीवन के व्यामोह में बँध गये हैं, और संपूर्ण जीवन 'ऑन ड्यूटी' ही रहना चाहते हैं और अन्तिम समय तक व्यवस्था को अपनी महान् सेवायें अर्पित करते रहते हैं, अपनी वृद्ध जर्जर परिपक्व-अतिपक्व बुद्धि से जमाने के विरुद्ध निर्णय लेते हैं। व्यामोह इस सीमा तक है कि अवकाश लेने की अट्ठावन या साठ वर्ष की वैधानिकता को भी स्वीकार नहीं करते—अपनी गलत उम्र दर्ज कराते हैं, जिससे कुर्सी से चिपकने के लिये और दो चार वर्ष मिल जायँ, और दो चार वर्ष बुढ़भस दिखाये। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य वानप्रस्थ और संन्यास, मन और शरीर की ही चार अवस्थायें हैं—थोपी गयी या किसी प्रकार की औपचारिक व्यवस्थाएँ नहीं। प्राचीन भारत ने इस सहज व्यवस्था पर वल दिया था, किन्तु औपचारिक या दैहिक रूप से इसका पालन कभी पूर्ण रूप से न हुआ होगा—अधिकांश लोगों के चारों आश्रम घर में ही बीतते होंगे। शिथिल मन, शिथिल इन्द्रिय होने पर आदमी स्वयं ही विरक्त होने लगता है, पर घर-द्वार, वाल-बच्चों का मोह एकाएक छोड़कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति कैसे संन्यासी बन सकता है। इस प्रकार अधिकांश आदमियों की तीन ही प्रकृत अवस्थायें रही होगीं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ। घर में तीनों का निर्वाह हो जाता है, जैसे आजकल। आश्रम की व्यवस्था प्राकृतिक है, कल्पित नहीं, जिसको प्राचीन ऋषियों ने व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की थी।

भारत हमेशा अपने को नियमों में बाँधता रहा है। कुछ लोगों पर असर पड़ा है, कुछ सदा बेअसर रहे हैं—शक्ति के बल पर या व्यवस्था की लाचारी में।

बीसवीं शताब्दी भौतिकवादी शताब्दी मानी जाती है। भौतिकता के प्रति मोह ही आज काल-विपर्यय करा रहा है। लोग समय के नियम को नहीं मानना चाहते। सिर झूल रहा है। स्मृति लुप्त हो रही है। चलने का बल समाप्त हो चुका है, लेकिन 'एक्स्टेंशन' की आशा है। इस उम्र के एक के वेतन में दो स्फूर्तिवान तेजस्वी और मेधावी युवक नियुक्त किये जा सकते हैं। पर व्यवस्था बूढ़ों के हाथ में है। सभी बूढ़े एक हैं। एक दूसरे को 'ऑक्सीजन' देकर जीवित रहने का भ्रम पैदा किये जा रहे हैं। वे काल को भूल गये हैं—'किसकी बनी है आलमे नापाएदार में' और इधर युवा पीढ़ी आँसू भरे—कुण्ठा भरे गीत गाने के लिए विवश है—'टूट गया वह निर्मम दर्पण।'

बूढ़ों ने युवा पीढ़ी की सारी डिग्रियाँ, सारे प्रमाण-पत्र फेल कर दिये हैं। वे अपने को ही सर्वनियंता मानते हैं, अपने को ही योग्य। युवकों पर उनका विश्वास नहीं। सोलह वर्ष का पुत्र मित्रवत हो जाता है—प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्। यहाँ तो पच्चीस और तीस वर्ष के युवक बेकार हैं। देश की कितनी शक्ति व्यर्थ क्षय हो रही है। पिता को पुत्रों पर विश्वास नहीं। जहाँ विश्वास है वहाँ घर ठीक है। हमारे 'दद्दू' ने करीब साठ वर्ष की उम्र से ही घर में रुचि लेना बन्द कर दिया था। सारा जिम्मा लड़कों बच्चों पर। धीरे-धीरे वे परिवार से अलग होते गये। जब वे खेत पर कड़ी मेहनत करते थे और प्रधान आयकर्ता (अर्निंग मेम्बर) थे, तब भी घर में काम में रुचि न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेते थे। जब हाथ पांव थके, तो घर के बारे में सोचना ही बन्द कर दिया। कितने ब्याह हुये—पुत्र, पुत्रियों, पौत्र-पौत्रियों के, उन्होंने कभी रुचि न ली। दो रोटी शाम को, दो रोटी सुबह। सदा प्रसन्न, सबके प्रति आशीर्वाद। ऐसा वीतराग और ऐसा अनुरागी मुझे देखने को नहीं मिला। कितना सुन्दर स्वभाव था उनका। कितने सरल हृदय के थे। शिक्षा न दीक्षा। गाँव के साधारण किसान। पर कठोर परिश्रमी। उन्हें नहीं पता था कि किस स्मृति में, किस मनु या याज्ञवल्क्य ने आश्रम व्यवस्था की बात कही है? किस उपनिषद या पुराण में इसका उल्लेख है? धर्म सिंधु या निर्णयसिंधु का उन्होंने कभी स्पर्श नहीं किया। उन्हें यह भी नहीं पता था कि किस-किस कवि ने अपने काव्य में आश्रम व्यवस्था को महत्त्व दिया। कविता क्या है, वे नहीं जानते थे। पर मेहनत की स्मृतियों ने उन्हें सम्पूर्ण ज्ञान करा दिया था। जैसे प्रकृति अपना वेश अपने आप बदलती रहती है, उसी प्रकार प्रकृति की गोद में पला उनका जीवन अपने आप बदलता रहा—चारों आश्रम मौन भाव से उनके जीवन में आये, चले गये।

आज के शिक्षित और अतिशिक्षित, ज्ञानियों और महाज्ञानियों में भी वह निर्लिप्तता देखने को नहीं मिलती। कहते हैं, ज्ञान मोह नष्ट करता है और व्यक्ति को शुद्ध व्यक्ति बना देता है। पर आज के अति शिक्षितों में, देश विदेश में उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने वालों में भी क्या अनाशक्ति आयी—बल्कि आशक्ति बढ़ी है। 'अङ्ग गलितं पलितं मुण्डं' की दशा में भी कुर्सी के लिये जीभ लपलपा रही है।

किन्तु पत्ते तो गिर रहे हैं। उन्हें कोई, रोक नहीं सकता। 'समय का वासुकि अपने सहस्रफन फैलाये परिवर्तन का संकेत' दे रहा है। यह काल-धर्म है। खुशी-खुशी इसे स्वीकार करना चाहिये और आगे के लिये रास्ता खाली कर देना चाहिये। सर्प केंचुल बदलकर नया हो जाता है। व्यक्ति अपने प्रतिरूप, अपने आत्मजातों को अवसर देकर अलग हो जाय, तो वह ही नया हो जायेगा। व्यक्ति, समाज सबका लाभ होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और ऐसा होता भी हमेशा आया है। 'पुरानी व्यवस्था बदलती है और नयी व्यवस्था आती है'—पुराने लोग जाते है, नये लोग आते हैं, पर इसके लिये जराजीर्ण होकर और काल की मार खाकर कुछ करने के पहले खुद ही आसन क्यों न खाली कर दें। जिसका हक है, उसे उसका हक दे दें। ग्रहण का मोह सुखद नहीं, त्याग की लालसा सुखद होती है—

जो कुछ समेटते, वह तो सब सपना है
जो लुटा रहे हो, वह केवल अपना है।

यहाँ तो कुछ लुटाना भी नहीं, दूसरे का, जिसका जो है, उसको वह दे देना है। पतझड़ में पत्ते गिरकर नये पत्तों के लिये अपनी जगह छोड़ देंगे। त्याग और बलिदान में ही नयी आशा का बीज छिपा रहता है। पतझड़ यही तो कह रहा है। वह विरसता का नहीं, सरसता का संदेश है।

●●

तिथी.......
पु०सं०....
भारती पुस्तकालय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Govt.

सम्मान

(1)

00,000/-

Prize (3)

s. 5,000/-

(Tickets ending with foll

3rd Prize (20) Rs

4th Prize (216) R

5th Prize (2160)

6th Prize (22,7,

Next Draw on.25

डायरेक्टर
राजस्थान स्टेट लाटरीज़
जयपुर फोन : 49262

We are not responsible for any printing error. Please check state gazette.

SIKKIM STATE

सिक्किम शुभ

Result of 21st Draw held at Gangtok on 18.9

1st Prize (1) Rs.1,00,000/-

2nd Prize (1) Rs.25,000/-

3rd Prize (40) Rs.5000/- each (All tickets

RP-99989	SP-46844	TP-
RP-75382	SP-89499	TP-

4th Prize (200) Rs.500/- each (All ticke

90790	54893	73767
43152	61915	59429

5th Prize ... Rs.50/- each (All ticke

2080 4481 559

/- each (All ticke

807 4721 334

each (All ticke

37 493 582

25.9.91

B-569839

दल... प्रदेश में ५० लोग मारे जा चुके

1st PRIZE Rs.1,00,000/- PWG-336111

2nd PRIZE Rs.1,00,000/- PWH-336111

3rd PRIZE Rs.5,000/- 36111

4th PRIZE Rs.500/- 6111

5th PRIZE Rs.100/- -111

DIRE...

NOTE

18-9-91

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का परिणाम :
H-680832
E-680832
G-680832
rs in all series)
80832
0832
832
7/- 2
T 3.30 P.M.

18-9-91 को सपन 34 व ड्रा का परिणाम
1st Prize (1) Rs.1,00,000/-
SK-19699
2nd Prize (1) Rs.5,000/- SL-19699
3rd Prize (4) Rs.1000/- 9699
4th Prize (54) Rs.500/- 699
5th Prize (5940) Rs.400/- 9
आगामी ड्रा आज ही
टिप्पणीः विजेताओं को सलाह दी जाती है कि अंतिम रूप से नम्बरों को आधिकारिक गजट से मिला लें।
आयोजकः सिक्किम सुब्बा एसोसिएट्स 22, होटल कांटिनेंटल एनेक्सी (रीगल बिल्डिंग के पीछे), कनाट प्लेस, नई दिल्ली-110001, फोनः310026, 352464
जारीकर्ताः निदेशक, सिक्किम स्टेट लाटरीज (सिक्किम सरकार), गंगटोक

54
DRAW EVERY WEDNESDAY 3.00P.M.
NOTE : For proper verific
Sole Selling Agents :
IQBAL CHAN
KHURAN
DIRECTOR,STATE LOT

ली लॉटरी

ence of Judges.
TP-375923
SP-533957
igits)
UP-24554
UP-10574
5 digits)
06314
11701
digits)
72 5264 0366
digits)
2 3231 6519
digits)
2 967
.1/-ONLY
L.B. PRADHAN
rector State Lotteries,
overnment of Sikkim,
ad, Gangtok-737 101

रॉयल गवर्नमेंट ऑफ भूटान
लाभ लक्ष्मी
डेली लॉटरी
18-9-91 को सम्पन्न 73 ड्रा का परिणाम

पहला पुरस्कार नू/रु एक लाख	3S-103859
दूसरा पुरस्कार नू/रु 5,000/-	3M 3O 3R 3T 103859
तीसरा पुरस्कार नू/रु 500/-प्रत्येक	03859
चौथा पुरस्कार नू/रु 100/-प्रत्येक	3859
पंचवा पुरस्कार नू/रु 20/-प्रत्येक	859
छठा पुरस्कार नू/रु 15/-प्रत्येक	9

SOLE STOCKIST :
P.H. JAIN,
14/8, DOCTORS LANE, GOLE MARKET
NEW DELHI - 1. PHONE : 343699
SOLE MARKETING AGENT :
PRESTIGE LOTTERY, MADRAS.
ISSUED BY : DEPUTY SECRETARY, ROYAL GOVT. OF BHUTAN, PHUNTSHOLING
लाभ लक्ष्मी का ड्रॉ रोजाना 3 बजे (I.S.T.)

Result of 426th Draw
the presence of Judge
1st Prize (1) Rs.1,00
2nd Prize (40) Rs.5,000/-
respective series)
TK-64799 UK-7
3rd Prize (400) Rs.1,000/
18084 0
95111 3
4th Prize (4,000) Rs.100/
5699 9
1833 6
5th Prize (4,000) Rs.50/-
8109 2
7757 6
6th Prize (8,000) Rs.20/-
1463 5308 15
7854 3935 9

परिणाम

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.